मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 101 ● वर्ष 11, अंक 8 ● अक्टूबर 2021 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

इतिहास को विकृत करने की संघी साज़िशें 9

ओबीसी आरक्षण बिल, जाति आधारित जनगणना और आरक्षण पर अस्मितावादी राजनीति के निहितार्थ 11

पूँजीवाद का हित साधने के लिए देश में बढ़ती फ़ासिस्टों की गुण्डागर्दी 13

लखीमपुर खीरी हत्याकाण्ड

फ़ासिस्ट योगी-मोदी सरकार का बेनक़ाब होता चेहरा!

फ़ासिस्टों की ख़ासियत है किसी तरह के विरोध को बर्दाश्त न करना

7 अक्तूबर 2021 को लखीमपुर खीरी में राज्य गृहमंत्री अजय मिश्र टेनी के बेटे द्वारा चार फ़ार्मर प्रदर्शनकारियों को अपनी गाड़ी के नीचे कुचलकर मार दिये जाने की भयंकर घटना घटित हुई। उस दिन उत्तर प्रदेश के उपमुख्यमंत्री केशव प्रसाद मौर्या किसी स्कूल में "सम्मानित" होने जा रहे थे। लखीमपुर खीरी के फ़ार्मरों को इस बात की सूचना थी। वह हेलीकॉप्टर से एक हेलीपैड पर उतरने वाले थे। लेकिन जब फ़ार्मरों ने हेलीपैड का घेराव किया तो मौर्या ने सड़क से आने का फ़ैसला किया। जब यह सूचना फ़ार्मरों को प्राप्त हुई, तो उन्होंने बनबीरपुर गाँव व तिकुनिया गाँव के बीच की सड़क पर प्रदर्शन शुरू कर दिया, जहाँ से भाजपा सरकार के मंत्रियों-संत्रियों का कारवाँ गुज़रने वाला था। इस सड़क पर ही भाजपा के नेता टेनी के बेटे ने इस फ़ासीवादी बर्बरता को अंजाम दिया। इसके जवाब में फ़ार्मरों का ग़ुस्सा फूटा और भाजपा के नेतृत्व के अनुसार उसके तीन सदस्यों और एक ड्राइवर को भीड़ ने हिंसा में मार दिया।

इसके बाद से योगी सरकार इस

सम्पादक मण्डल

मसले पर जाँच व प्राथमिकी दर्ज करने का आश्वासन देकर मसले को रफ़ा-दफ़ा करने की कोशिश में है। इसमें उसकी सबसे ज़्यादा सहायता और कोई नहीं बल्कि फ़ार्मर आन्दोलन के एक प्रमुख नेता टिकैत कर रहे हैं। उन्होंने ही इस घटना के बाद प्रशासन से मिलकर वार्ताएँ कीं और प्राथमिकी दर्ज करवाये जाने और मृतकों को 45 लाख व घायलों को 10 लाख रुपये के आश्वासन मिलने पर समझौता करवाया और फिर इस घटना के विरोध में हो रहे फ़ार्मरों के प्रदर्शन को समाप्त करवाया और मृतकों के शरीर को पोस्टमॉर्टम के लिए भिजवाया। अगले दिन किसानों के संयुक्त मोर्चा ने देशभर में डी.सी. दफ़्तरों पर प्रदर्शन रखवाये। देश भर में आम लोगों के बीच इस घटना को लेकर ग़ुस्सा और सदमा है। ग़ौरतलब है कि यह सम्पादकीय लिखे जाने तक अजय मिश्रा टेनी के बेटे के विरुद्ध प्राथमिकी दर्ज होने के बावजूद उसे गिरफ़्तार नहीं किया गया था और योगी सरकार ड्राइवर पर और फ़ार्मरों द्वारा पथराव पर इल्ज़ाम डालकर मंत्री और मंत्री के बेटे को बचाने की क़वायद में लगी हुई है। यहाँ तक कि पूँजीवादी विपक्ष जैसे कि कांग्रेस, सपा, बसपा आदि के नेताओं को भी लखीमपुर खीरी में घटना-स्थल पर जाने नहीं दिया गया और कइयों को हिरासत में भी ले लिया गया। यह भी टिकैत के कहने पर ही किया गया था ताकि वह समझौता करवा सके। केवल टिकैत और चन्द्रशेखर रावण को ही इलाक़े में जाने दिया गया। रावण के

(पेज 8 पर जारी)

भारत में ट्रेड यूनियन अधिकार सम्बन्धी क़ानून: एक मज़दूर वर्गीय समीक्षा

– शिवानी

हमारे देश में कहने के लिए तो मज़दूरों के लिए दर्जनों केन्द्रीय और सैकड़ों राज्य श्रम क़ानून काग़ज़ों पर मौजूद हैं पर तमाम कारख़ानों-खेतों खलिहानों में काम करने वाले करोड़ों श्रमिक अपनी जीवन स्थितियों से जानते और समझते हैं कि इन क़ानूनों की वास्तविकता क्या है और हक़ीक़त में ये कितना लागू होते हैं। देश के असंगठित-अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत मज़दूर आबादी तो वैसे भी इन तमाम क़ानूनों के दायरे में बिरले ही आती है। वहीं औपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले संगठित कामगारों-कर्मचारियों के तबक़े को भी इस क़ानूनी संरक्षण के दायरे से बाहर करने की क़वायदें तेज़ हो रही हैं। बावजूद इसके इन श्रम क़ानूनों के वास्तविक चरित्र की चर्चा कम ही होती है।

फ़िलहाल श्रम क़ानूनों का मसला इसलिए भी सुर्ख़ियों में बना हुआ है क्योंकि मोदी सरकार द्वारा मज़दूरों को प्राप्त श्रम क़ानून रूपी नाममात्र की इस राजकीय सुरक्षा और संरक्षण पर भी हमला बोला जा रहा है। लेकिन कम ही लोग जानते हैं कि आज की फ़ासीवादी मोदी सरकार व अन्य राज्य सरकारें जिस मज़दूर वर्ग-विरोधी मुहिम को आगे बढ़ा रही हैं उसकी शुरुआत बहुत पहले ही कांग्रेस के समय से हो चुकी थी। विशेष तौर पर 1991 में नव उदारवादी नीतियों की औपचारिक शुरुआत के साथ ही पूँजीवादी राज्यसत्ता और तमाम सरकारों की श्रम सम्बन्धी नीतियों में एक निरन्तरता दिखलाई पड़ती है जिसने पूँजीपति वर्ग के "धन्धे और कारोबार में आसानी" के नाम पर श्रम के अनौपचारिकीकरण, ठेकाकरण, कैज़ुअलकरण आदि की प्रकिया को बड़े पैमाने पर संवेग प्रदान किया है।

साथ ही, जिस स्वरूप में ये श्रम क़ानून अपने मूल रूप में भी मौजूद थे, उस रूप में भी ये किसी भी पैमाने से मज़दूरों के असली हक़ों-अधिकारों की नुमाइन्दगी नहीं करते थे। हालाँकि इस तथ्य को केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें और मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी कर चुकी संशोधनवादी यूनियनें कभी नहीं उठाती हैं मानो कि अपने मूल रूप में ये क़ानून बहुत आमूलगामी या कल्याणकारी रहे हों। परन्तु इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि आज सरकारों द्वारा श्रम क़ानूनों पर हो रहे हमलों का विरोध नहीं किया जाना चाहिए।

वास्तव में श्रम क़ानूनों के पूरे इतिहास और विकास क्रम को देखने पर पूँजीवादी राज्य का असली स्वरूप व चरित्र ही उद्घाटित होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ऊपर से ऐसा दिखता है कि राज्य पूँजी और श्रम के बीच के सम्बन्धों के बीच तालमेल या सन्तुलन स्थापित कर रहा है। लेकिन वस्तुतः पूँजीवादी राज्य, पूँजीपति वर्ग से अपनी सापेक्षिक स्वायत्तता के बावजूद, अन्तिम तौर पर समूचे पूँजीपति वर्ग के क्रियाकलापों के प्रबन्धन का ही काम करता है, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को रेखांकित और पुनरुत्पादित करता है और पूँजीपति वर्ग के दीर्घकालिक सामूहिक वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में मौजूद क़ानून व न्यायिक व्यवस्था को देखने पर आम तौर पर और तमाम श्रम क़ानूनों के विश्लेषण में विशिष्ट तौर पर यही बात बार-बार सत्यापित भी होती है।

भारत में श्रम व फ़ैक्टरी विधि निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता द्वारा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध व बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में की गयी थी। भारत की उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्यसत्ता ने मामूली बदलावों के साथ

(पेज 4 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मेरा नाम अमित है। मैं हरियाणा के ज़िला हिसार के खरकड़ा गाँव के एक ग़रीब दलित मज़दूर परिवार से ताल्लुक़ रखता हूँ। मैंने जातिगत भेदभाव भी झेला है। फ़िलहाल मैं कॉलेज छात्र हूँ लेकिन ज़रूरत पड़ने पर मैं मज़दूरी भी करता हूँ। मेरे रिश्तेदार के गाँव में बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रचार अभियान के दौरान मई 2021 में मुझे मज़दूर बिगुल का अंक पहली बार मिला था। मुझे बिगुल पढ़कर ऐसा अहसास हुआ जैसे इसमें मेरे ही मनोभावों को अभिव्यक्त किया गया हो। तब से मैं नियमित तौर पर मज़दूर बिगुल अख़बार पढ़ता हूँ और इसके वितरण में भी सहयोग देने का प्रयास करता हूँ।

मुझे लगता है मज़दूर बिगुल को और भी व्यापक रूप से जनता के हर हिस्से तक पहुँचाया जाना चाहिए। यह अख़बार एक हथियार की तरह है जोकि हमारे संघर्षों को दिशा देता है, हमें हमारे गौरवशाली अतीत से परिचित कराता है तथा हमें शिक्षित करता है। मैं यह बात भी दावे के साथ कह सकता हूँ कि जातिवाद के ख़िलाफ़ हमारा संघर्ष भी तभी कामयाब हो सकता है जब तमाम जातियों के ग़रीब लोग इसके ख़िलाफ़ वर्गीय एकजुटता के साथ उठ खड़े होंगे। साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था ही मुख्य तौर पर आज जातीय शोषण को बरक़रार रखे हुए है। मुझे पूरा यक़ीन है कि मज़दूर बिगुल शोषक जमात की नींद उड़ा देगा जिन्होंने हमारा जीना हराम कर रखा है।

– अमित, गाँव खरकड़ा, ज़िला हिसार, हरियाणा

मेरा नाम सन्दीप कुमार है। मैं एक ग़रीब मज़दूर परिवार में पैदा हुआ था। फ़िलहाल मैं सोनीपत नगर निगम में ठेकेदार कम्पनी के तहत एक सफ़ाई कर्मचारी के तौर पर काम करता हूँ। वैसे तो मैं बीए पास हूँ लेकिन कोई और रोज़गार नहीं मिलने के चलते मुझे इस काम में लगना पड़ा है। मुझे लगता है कि कोई काम छोटा-बड़ा नहीं होता है। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि सफ़ाई कर्मचारी का काम बेहद जोखिम-भरा काम है। हमें काम करने के दौरान किसी भी प्रकार का कोई भी सुरक्षा का साधन नहीं दिया जाता। वैसे तो हम अग्रिम पंक्ति के कर्मचारियों में आते हैं लेकिन नगर निगमों और सरकारों को हमारे जीने-मरने की कोई चिन्ता नहीं होती है। हमारे लिए कोरोना काल में भी सरकार की ओर से कोई ख़ास सुरक्षा इन्तज़ाम नहीं किया गया। बारिश का समय तो हमारे लिए सबसे मुश्किल वक़्त होता है। ऐसे में हमें रुके हुए नालों और सीवरेज होलों को ख़ाली और साफ़ करना होता है। हमारे कितने ही सफ़ाईकर्मी भाई इस काम के दौरान मौत के मुँह में समा जाते हैं।

मैं पिछले 1 साल से मज़दूर बिगुल अख़बार पढ़ रहा हूँ। मज़दूर बिगुल अख़बार की स्पष्टवादिता और सच को सामने लाने की विशेषता का मैं शुरू से ही प्रशंसक रहा हूँ। सरकार मज़दूर वर्ग के विरुद्ध क्या-क्या षड्यंत्र कर रही है, इस बात को भी बिगुल अच्छे से बताता है। बिगुल हमें मज़दूर वर्ग के इतिहास के बारे में भी बताता है और इससे हमें काफ़ी प्रेरणा मिलती है। पिछले अंक में तेलंगाना किसान आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन पर आये लेख मुझे काफ़ी बढ़िया लगे। मुझे उम्मीद है मज़दूर बिगुल अख़बार ऐसे ही निकलता रहेगा और मज़दूर वर्ग को जगाने का काम करता रहेगा।

– सन्दीप कुमार, सोनीपत

राजस्थान में प्रतियोगी परीक्षाओं के पेपर आउट, बेरोज़गार युवाओं के साथ छलावा

राजस्थान में 2018 के विधानसभा चुनाव में युवाओं को नौकरी देने के नाम पर कांग्रेस पार्टी सत्ता में आयी। लेकिन कांग्रेस की अशोक गहलोत सरकार ने आम जनता व युवाओं को छलावे के सिवा कुछ नहीं दिया। पूरे कोरोना काल में राज्य सरकार का कुप्रबन्धन हावी रहा। राजस्थान में पेट्रोल और डीज़ल पर वैट की दर सबसे अधिक है। युवाओं और बेरोज़गारों को उम्मीद थी कि गहलोत सरकार नयी भर्तियाँ निकालेगी व युवाओं को रोज़गार के अवसर उपलब्ध करायेगी। लेकिन गहलोत सरकार ने नाममात्र की जो भी नयी भर्तियाँ निकाली उनमें भी लगभग सभी परीक्षाओं के पेपर लगातार आउट हुए हैं और बड़े पैमाने पर नक़ल हुई है। इनमें जेइन भर्ती, लाइब्रेरियन भर्ती, एस.आई. भर्ती और अभी हाल ही में 26 सितम्बर को 31,000 पदों के लिए आयोजित की गयी रीट भर्ती जिसके नम्बरों के आधार पर थर्ड ग्रेड टीचर की भर्ती की जाती है। रीट भर्ती राजस्थान की अब तक की सबसे बड़ी भर्ती परीक्षा है, जिसमें लगभग 16.50 लाख अभ्यर्थियों ने आवेदन किया था। इसमें नक़ल रोकने के नाम पर अभ्यर्थियों को 500 किमी दूर तक परीक्षा केन्द्र दिये गये व इण्टरनेट को बन्द रखा गया। लेकिन फिर भी रीट परीक्षा का पेपर आउट हो गया। कई सेण्टरों पर ब्लूटूथ से नक़ल होने की ख़बरें आयीं। अधिकांश परीक्षा सेण्टरों पर पेपर की सील पहले से ही टूटी हुई मिली। इस परीक्षा के डेढ़ घण्टे पहले पेपर पुलिस कांस्टेबल के मोबाइल में जवाब के साथ पाया गया। इसके बाद और भी बड़े ख़ुलासे हुए। इस मामले में अब तक सैकड़ों लोगों को एसओजी द्वारा गिरफ़्तार किया गया है और बीस सरकारी अधिकारी व कर्मचारियों को निलम्बित किया गया है। जिसमें एसडीएम., ज़िला शिक्षा अधिकारी व सरकारी शिक्षक शामिल हैं। इसका मास्टर माइण्ड बत्ती लाल मीणा अभी तक फ़रार है। उसके कांग्रेस व भाजपा के नेताओं और मंत्रियों के साथ फ़ोटो वायरल हो रहे हैं। इससे ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पेपर आउट होने के तार कहाँ से जुड़े हुए हैं।

राजस्थान के मुख्यमंत्री अशोक गहलोत अपने आप को गाँधीवादी और एक उदारवादी की तरह पेश करते हैं। परन्तु उनकी सरकार के नाक के नीचे सरेआम प्रतियोगी परीक्षाओं के पेपर आउट हो रहे हैं। इस वजह से जो छात्र और बेरोज़गार युवा कई सालों से प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे हैं वे अपने आपको ठगा-सा महसूस कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश युवा मज़दूरों, मेहनतकशों व निम्न मध्यवर्गीय घरों से आते हैं। दरअसल राजस्थान में पिछले दस सालों से पेपर माफ़िया और नक़ल गिरोह काम कर रहा है। जिनका गठजोड़ उच्च स्तर के अधिकारियों और कांग्रेस व भाजपा के नेताओं से है। इससे निम्न मध्यवर्गीय और ग़रीब किसानों के बेटे-बेटियों का बहुत आर्थिक व मानसिक शोषण होता है। कुछ लोग तो एक परीक्षा की तैयारी तीन साल से कर रहे थे। पेपर आउट और नक़ल होने की घटना सामने आने से बहुत-से लोग अवसाद में आ जाते हैं। कुछ तो आत्महत्या जैसे क़दम भी उठा लेते हैं। काश वे अपना जीवन नष्ट करने की बजाय इस व्यवस्था को नष्ट करने के बारे में सोचते!

आज के निजीकरण के दौर में सरकारी नौकरियाँ बहुत सीमित हैं। जो थोड़ी बहुत सरकारी नौकरियों के लिए भर्तियाँ निकलती भी हैं वह पेपर आउट, नक़ल गिरोह व भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती हैं। निस्सन्देह आज के समय में बेरोज़गार युवाओं को सरकारी नौकरियों के लिए होने वाली भर्ती परीक्षाओं में पारदर्शिता की माँग करनी चाहिए और निजीकरण का विरोध करना चाहिए। लेकिन लम्बी दूरी में इस जानलेवा पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने के बारे में भी सोचना चाहिए।

– रवि, जयपुर

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं : www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

कोरोना काल में मज़दूरों की जीवनस्थिति

- भारत

आज देशभर के मज़दूर कोरोना की मार के साथ-साथ सरकार की क्रूरता और मालिकों द्वारा बदस्तूर शोषण की मार झेल रहे हैं। बीते वर्ष से अब तक पूरे कोरोनाकाल में मज़दूरों-मेहनतकशों का जीवन स्तर नीचे गया है। खाने-पीने में कटौती करने से लेकर वेतन में कटौती होने या रोज़गार छीने जाने से मज़दूरों के हालात बद से बदतर हुए हैं।

कोरोना महामारी से बरपे इस क़हर ने पूँजीवादी व्यवस्था के पोर-पोर को नंगा करके रख दिया है। दूसरी लहर में लाखों लोग ऑक्सीजन, बेड, दवाइयों की कमी के कारण मारे गये। वहीं पिछले साल करोड़ों मज़दूरों को सरकार की लापरवाही के कारण हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने के लिए मजबूर होना पड़ा, जिसके कारण कई मज़दूरों की मौत भी हो गयी। दोनों ही बार मज़दूर आबादी को सरकार ने भूख, बीमारी और बेरोज़गारी से मरने के लिए छोड़ दिया।

पिछले डेढ़ साल से मज़दूरों के बीच अनिश्चितता का माहौल बना हुआ है। दो बार अनियोजित लॉकडाउन लगने के कारण बची-खुची कमाई भी समाप्त हो चुकी है। इसके अलावा उनके बीच पिछले साल की वे भयावह यादें अब भी ताज़ा हैं। अगर पिछले वर्ष की बात करें तो स्टैण्डर्ड वर्कर एक्शन ग्रुप के एक सर्वे के अनुसार पिछले साल 81.6 प्रतिशत प्रवासी मज़दूरों को लॉकडाउन के दौरान राशन नहीं मिला। एक्शन एड की एक रिपोर्ट बताती है कि 2020 में अनियोजित लॉकडाउन के कारण 78 प्रतिशत मज़दूरों के पास रोज़ी-रोटी कमाने का कोई साधन नहीं था। अन्य एक रिपोर्ट के अनुसार 85 प्रतिशत मज़दूरों को लॉकडाउन का वेतन नहीं मिला। 85 प्रतिशत मज़दूर अपने कमरे का किराया दे पाने में सक्षम नहीं थे। 84 प्रतिशत प्रवासी मज़दूरों को राशन नहीं मिला। इसी कारण पिछले साल क़रीब 8 से 10 करोड़ मज़दूरों का पलायन हुआ। बसों-ट्रकों में जानवरों की तरह लदकर, हज़ारों रुपये किराया लगाकर मज़दूर अपने गाँव गये। इसी पलायन में क़रीब 100 मज़दूरों की जान चली गयी और करोड़ों लोग भूख से बेहाल होकर पुलिस की मार खाते हुए हज़ारों किलोमीटर चलते रहे। यह इस देश की आज तक की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है। इसी कारण आज भी मज़दूरों के बीच अनिश्चितता है जो इस पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा ही जनित है।

कोरोना की पहली लहर के बाद लॉकडाउन खुलते ही मज़दूरों का वापस आना शुरू हो गया। मज़दूर भी जानते हैं कि गाँव में रोटी-रोज़गार का प्रबन्ध हो पाना और ज़्यादा मुश्किल है। मज़दूरों की बहुत बड़ी आबादी ऐसी है जिनके पास गाँव में भी ज़मीन नहीं है, इसलिए रोज़गार की तलाश में उन्हें वापस शहर की ओर आना ही था। पर वापस आकर काम-धन्धा न मिलने के बाद उनकी ज़िन्दगी और मुश्किल हो गयी। बेरोज़गारी कोरोना से पहले भी एक बड़ी समस्या थी पर कोरोना संकट ने इसे अत्यधिक विकराल रूप दे दिया है। सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इकोनॉमी के आँकड़ों के अनुसार अगस्त महीने में देश में 16 लाख लोग बेरोज़गार हो गये। अगस्त महीने में बेरोज़गारी दर 8.32 प्रतिशत हो गयी। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि हालात कितने भयानक हैं। औद्योगिक क्षेत्रों, सर्विस सेक्टर हर जगह मज़दूरों-नौजवानों की भीड़ रोज़गार की तलाश में भटकती मिल जायेगी। इस तरह की भीड़ कम्पनियों के गेटों के अन्दर और बाहर दोनों जगह देखने को मिलती है। बीते दिनों गुडगाँव के एक कारख़ाने का वीडियो सामने आया जिसमें कम्पनी गेट पर तीन-चार सौ महिला और पुरुष मज़दूर रोज़गार के लिए खड़े हैं। कुछ मज़दूरों से बात करने पर पता चलता है कि वे हर रोज़ सुबह अपने घर का काम जल्दी-जल्दी निपटाकर रोज़गार की तलाश में निकल पड़ते हैं कि कहीं आज काम मिल जाये। लेकिन काम बहुत ही कम लोगों को मिल पाता है। अधिकांश मज़दूर निराश होकर घर लौट जाते हैं। कई मज़दूर तो गुड़गाँव के बाहर हरियाणा के विभिन्न ज़िलों व देश के विभिन्न राज्यों में काम खोज रहे हैं। काम जो मिलता है पहले से कम वेतन या बढ़ती महँगाई की तुलना में बहुत कम मिलता है।

एनसीआर में एक फ़ैक्टरी के बाहर बेरोज़गार मज़दूरों की भीड़

कई मज़दूर काम न मिलने की वजह से फल, सब्ज़ी, घरेलू आदि समान की रेहड़ी-ठेला लगाने लगे हैं। लेकिन पहले से लगा रहे रेहड़ी वाले बता रहे थे कि रेहड़ी-ठेले वालों की संख्या बढ़ने की वजह से आमदनी भी कम होती जा रही है, दूसरी तरफ़ महँगाई की मार बढ़ रही है। अब हालात ये हैं कि मज़दूरों के पास एक महीने का ख़र्च चलाने का भी पैसा नहीं है। इसी कारण बहुत मज़दूर ऊँची ब्याज़दर पर पैसे उधार ले रहे हैं। अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी द्वारा पाँच हज़ार मज़दूरों पर किये गये सर्वे की रिपोर्ट बताती है कि 46 प्रतिशत मज़दूरों ने इस दौरान क़र्ज़ लिया। इस समय मज़दूरों को अपने जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के सामान तक इकट्ठा करने के लिए जूझना पड़ रहा है। यही रिपोर्ट बताती है कि 80 प्रतिशत मज़दूर अपने खाने तक में कटौती कर रहे हैं। 47 प्रतिशत मज़दूरों के पास अपना ज़रूरी सामान ख़रीदने तक के पैसे नहीं है।

एक तरफ़ बेरोज़गारी अपने चरम पर है, तो दूसरी तरफ़ जहाँ काम मिल भी रहा है या जो मज़दूर काम कर भी रहे हैं वहाँ से आठ घण्टे काम का नियम ही लुप्त हो चुका है। मज़दूरों को भी मजबूरी में बारह घण्टे काम करना ही पड़ता है, क्योंकि छः-सात हज़ार रुपये महीना में घर तो चलने वाला नहीं है। आपदा को अवसर में तब्दील करते हुए मालिकों ने मज़दूरों के वेतन में पन्द्रह सौ-दो हज़ार रुपये तक की कटौती की है। अब औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूरों की आठ घण्टे की तनख़्वाह 6,500-7,000 रुपये के बीच है और चार घण्टे ओवरटाइम लगाने के बाद 9,000 रुपये तक बमुश्किल बनते हैं। यह तनख़्वाह तो सिर्फ़ पुरुषों की है, महिलाओं की आठ घण्टे की पगार 5000-6000 रुपये है।

वज़ीरपुर की गरम रोला फ़ैक्टरी में काम कर रहे धीरेन्द्र बताते हैं कि अप्रैल से लेकर जुलाई तक कोई काम नहीं मिला। मुम्बई भी काम की तलाश में गये लेकिन वहाँ भी काम नहीं मिला। फिर पूरी दिल्ली में काम तलाशने के बाद कहीं जाकर एक फ़ैक्टरी में काम मिला। यहाँ काम तो मिल गया पर मालिक जानवर की तरह खटा रहा है। चार लोगों का काम अकेले से करवाता है। बारह घण्टे से कम कोई काम नहीं है। ऊपर से तनख़्वाह के नाम पर नौ हज़ार रुपये ही देता है। उसी में घर पैसे भी भेजने होते हैं, उसी में से उधार भी चुकाना होता है।

एक ओर विकास के आँकड़े उछाले जा रहे हैं दूसरी ओर देश में ग़रीबों, बेरोज़गारों, बेघर लोगों की तादाद भी लगातार बढ़ती गयी है। देश की लगभग 47 करोड़ मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत, या 43 करोड़ मज़दूर असंगठित क्षेत्र में धकेल दिये गये हैं जहाँ वे बिना किसी क़ानूनी सुरक्षा के ग़ुलामों जैसी परिस्थितियों में काम करने के लिए मजबूर हैं। इनमें से बहुत बड़ी संख्या ने पिछले डेढ़ साल में अपना रोज़गार खो दिया है। इस साल के शुरुआती पाँच महीनों में ही ढाई करोड़ से ज़्यादा लोग रोज़गार गँवा चुके हैं। असंगठित क्षेत्र में काम कर रहे मज़दूरों के लिए श्रम क़ानून या किसी भी प्रकार की सुरक्षा का कोई महत्व नहीं है। सबसे ज़्यादा बेरोज़गारी असंगठित क्षेत्र में ही है। सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी (सीएमआईई) के अनुसार, अप्रैल से लेकर अगस्त तक जितनी बेरोज़गारी बढ़ी है, उसमें तीन चौथाई हिस्सा असंगठित क्षेत्र का है।

दिहाड़ी पर काम करने वाले गंगाराम बताते है कि पिछले साल से काम मिलना तो बन्द ही हो गया है। रोज़ लेबर चौक पर जाते हैं, सुबह से शाम तक खड़े रहने के बाद भी काम नहीं मिलता। पहले महीने में पन्द्रह-बीस दिन काम मिल जाता था जिससे घर चल जाता था, पर अब पाँच दिन भी बड़ी मुश्किल से मिलता है। कम्पनी में भी जाते हैं, तो वहाँ भी ठेके पर ही काम करवाया जाता है। आज काम है, कल होगा या नहीं, यह पता नहीं। महँगाई इतनी बढ़ गयी है कि कुछ खाने का सामान ख़रीदने से पहले भी कई बार सोचना पड़ता है। पिछले साल से दो वक़्त की रोटी मिलना भी मुश्किल हो रहा है।

यही हाल आज देशभर के मज़दूरों-मेहनतकशों का है। पर सवाल यह बनता है कि आख़िर इसका ज़िम्मेदार कौन है? क्यों आज देश के मज़दूरों-मेहनतकशों के ये हालात हैं? क्योंकि आपदा को अवसर में बदलते हुए यह फ़ासिस्ट मोदी सरकार तन-मन-धन से पूँजीपति वर्ग की सेवा करने में मगन है। अपने आक़ाओं के मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए यह करोड़ों मज़दूरों का जीवन ख़त्म करने के लिए भी तैयार है।

फ़ासीवादी मोदी सरकार कोरोना के प्रति शुरुआत से ही पाशविक लापरवाही बरतती आयी है, जो अब अपने क्रूरतम रूप में है। जब पूरी दुनिया में कोरोना फैल रहा था, तब मोदी 'नमस्ते ट्रम्प' करा रहा था, दिल्ली दंगों के सफल प्रयोग किये जा रहे थे, सीएए-एनआरसी आन्दोलनों को कुचला जा रहा था। इसके बाद कोरोना से लड़ने के नाम पर आनन-फ़ानन में लॉकडाउन लगा दिया और तुरन्त घड़ियाली आँसू बहाते हुए पीएम केयर्स फ़ण्ड बनाया गया जिसके पैसे का आजतक कोई हिसाब-किताब नहीं दिया गया। जब देश चिताओं के ढेर में तब्दील हो रहा था, तब भी ये हत्यारे सेण्ट्रल विस्टा का काम बिना रुके करवा रहे थे। अनियोजित लॉकडाउन के अलावा जो सबसे बड़ा हमला मोदी सरकार ने मज़दूरों पर किया है, वह है काग़ज़ों पर बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को समाप्त कर, चार लेबरकोड बनाना। इस क़ानून के लागू होने के बाद वेतन का भुगतान अधिनियम 1936, न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948, बोनस भुगतान अधिनियम 1965 और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 को ख़त्म कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत पूरे देश के लिए वेतन का न्यूनतम स्तर निर्धारित किया जायेगा। सरकार ने मालिकों के प्रति उदारता दिखाते हुए प्रतिदिन के लिए स्तरीय मज़दूरी 178 रुपये करने की घोषणा कर दी है यानी 26 दिन का 4628 रुपये। इसी के साथ जिन कारख़ानों में 300 तक मज़दूर हैं उनकी छँटनी करने के लिए सरकार की इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं होगी (पहले यह संख्या सौ थी)। मैनेजमेण्ट को साठ दिन का नोटिस दिये बिना मज़दूर हड़ताल पर नहीं जा सकते। यह सब क़ानून तब लागू किये गये जब कोरोना के कारण पूरे देश में लॉकडाउन जैसे हालात बने हुए थे। ऐसे समय में भी मोदी सरकार मालिकों की जेब भरने में कोई कोताही नहीं बरत रही है। इसी के साथ राज्य सरकारें भी मज़दूरों को लूटने की आज़ादी देने में पीछे नहीं हैं।

कोरोना से पहले ही पूँजीवादी व्यवस्था भयानक मन्दी के दौर से गुज़र रही थी, कोरोना काल ने इस संकट को और गहरा बना दिया है। मालिकों के मुनाफ़े की दर गिरने के कारण मन्दी उत्पन्न होती है। अपनी मुनाफ़े की दर को बढ़ाने के लिए पूँजीपति वर्ग किसी भी हद तक जा सकता है और उसका सबसे बड़ा निशाना मज़दूर वर्ग ही होता है। इसी कारण कोरोना के इस पूरे दौर में भी आपदा को अवसर में तब्दील करते हुए पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के अधिकार को छीनने का काम अपनी मैनेजिंग कमेटी के द्वारा जारी रखे हुए है।

लगातार चौड़ी होती जा रही शासक वर्गों और वंचितों-शोषितों की यह खाई दिन-ब-दिन मेहनतकशों के दिल में बग़ावत की आग को हवा दे रही है। इसलिए आज संगठित होकर वेतन बढ़ाने की लड़ाई से लेकर पक्के रोज़गार की लड़ाई लड़नी होगी। पर मज़दूर वर्ग सिर्फ़ अपनी मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के लिए लड़कर कुछ नहीं हासिल कर सकता। मज़दूरों को मज़दूरी बढ़ाने के लिए लड़ने के साथ-साथ मज़दूरी की पूरी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए भी लड़ना होगा। एक ऐसा समाज बनाने के लिए लड़ना होगा जहाँ उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर थैलीशाहों का क़ब्ज़ा न हो, और मेहनत के फल सभी के लिए बराबरी से उपलब्ध हो।

भारत में ट्रेड यूनियन अधिकार सम्बन्धी क़ानून: एक मज़दूर वर्गीय समीक्षा

(पेज 1 से आगे)

ही इन्हीं क़ानूनों को बरक़रार रखा क्योंकि ये भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकताओं के भी अनुकूल था। यानी तमाम श्रम व फ़ैक्टरी अधिनियम जैसे कि कारख़ाना अधिनियम व इसके विभिन्न संशोधन (Factories Act), मज़दूरी संदाय अधिनियम 1936 (Payment of Wages Act, 1936), कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम 1923 (Workmen's Compensation Act, 1923), ट्रेड यूनियन अधिनियम 1926 (Trade Unions Act, 1926), व्यवसाय विवाद अधिनियम 1929 (Trade Disputes Act, 1929), जो आगे चलकर औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 (Industrial Disputes Act, 1947) बना, आदि का उद्भव औपनिवेशिक काल में देखा जा सकता है। फ़िलहाल इस लेख में हम श्रम विधि निर्माण में ट्रेड यूनियन सम्बन्धी अधिनियमों और क़ानूनी प्रावधानों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926 का मूलभूत उद्देश्य "उत्तरदायित्वपूर्ण यूनियनवाद" को बढ़ावा देना था, वहीं व्यवसाय विवाद अधिनियम का मक़सद विवाद के पक्षों (ज़ाहिरा तौर पर मुख्यतः मज़दूर यूनियनों) को समझौते और मध्यस्थता के लिए बाध्य करना था। जैसा कि हमने ऊपर भी इंगित किया यही व्यवसाय विवाद अधिनियम आगे चलकर औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के रूप में सामने आता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतीय राज्यसत्ता को ये तमाम क़ानून विरासत में प्राप्त हुए। स्पष्टतः इन आधे-अधूरे लूले-लँगड़े श्रम क़ानूनों के निर्माण में भी मुख्य तौर पर जुझारू मज़दूर संगठनों व संघर्षों की भूमिका अग्रणी थी और राज्यसत्ता द्वारा ये ख़ैरात में नहीं दिये गये थे। ग़ौरतलब है कि उस दौर में इन मज़दूर संघर्षों का चरित्र राजनीतिक था और राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर भी मज़दूर आन्दोलन की उपस्थिति और दख़ल था। इसके अलावा, वैश्विक परिस्थितियाँ भी एक भूमिका अदा कर रही थीं जिसमें 1917 की रूस की अक्टूबर बोल्शेविक क्रान्ति और उसके आलोक में कई देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के गठन की भूमिका उल्लेखनीय है।

हालाँकि श्रम क़ानूनों को बनाने के पीछे एक अन्य पहलू भी काम कर रहा था। वह था इन क़ानूनों के ज़रिए औद्योगिक विवादों में, यानी श्रम और पूँजी के अन्तरविरोध में पूँजीवादी राज्य की हस्तक्षेपकारी भूमिका को रेखांकित और परिभाषित करना और साथ ही मज़दूर संघर्षों को इन क़ानूनों के द्वारा विनियमित करना और मज़दूर आन्दोलन के पूरे विमर्श को ही वैधता और क़ानून (legality) के दायरे में संकुचित करना।

आज़ादी के बाद त्वरित आर्थिक विकास और "औद्योगिक शान्ति" को बनाये रखने के लिए पूँजीपति नियोक्ताओं और यूनियनों (यानी पूँजी और श्रम) के बीच राज्य की मध्यस्थता को श्रम व फ़ैक्टरी संहिताओं के ज़रिए स्थापित किया गया मानो पूँजीवादी राज्य इन संघर्षरत वर्गों से इतर और उनके ऊपर बैठा हुआ कोई निष्पक्ष या तटस्थ निकाय हो। इसके तहत औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए श्रम और पूँजी के बीच राज्य एजेंसियों की मध्यस्थता को अनिवार्य शर्त बना दिया गया। यानी औद्योगिक विवादों में कहने के लिए एक "त्रिपक्षीय" व्यवस्था लागू की गयी।

यह तथाकथित "त्रिपक्षीयता" का सिद्धान्त वास्तव में एक आभासी या प्रतीतिगत यथार्थ है और भ्रामक है क्योंकि किसी भी वर्ग समाज में और विशेषकर पूँजीवाद के अन्तर्गत राज्य, अन्तिम तौर पर, सम्पत्तिधारी वर्गों के हितों की ही नुमाइन्दगी करता है और यह "त्रिपक्षीयता" अपने सारतत्व में द्विपक्षीय ही है जिसमें कि वास्तव में दो ही पक्ष हैं, यानी कि श्रम और पूँजी के अन्तरविरोधी और विपरीत ध्रुव हैं। विवाद-निपटारे की इस "त्रिपक्षीय" कार्य प्रणाली ने आम तौर पर और दीर्घकालिक तौर पर पूँजीपतियों और मालिकों के पक्ष में ही काम किया है।

आनुभविक तौर पर भी यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि इस "मध्यस्थता" के नाम पर गुड़गाँव-मानेसर के मारुति आन्दोलन से लेकर तमिलनाडु में स्टरलाइट आन्दोलन तक पूँजीवादी राज्यसत्ता ने पूँजीपतियों और मालिकों के ही हितों की हिफ़ाज़त की है। यह बात सच है कि कुछ मामलों में पूँजीपति, बिना राज्य की अनिवार्य मध्यस्थता के, स्वयं अपने और यूनियनों के बीच सामूहिक मोलभाव को ज़्यादा फ़ायदेमन्द समझे और किसी गतिरोध की स्थिति में ही राज्य के हस्तक्षेप को आमंत्रित करें, लेकिन भारत में पूँजीवादी विकास के विशिष्ट पथ के मद्देनज़र, जिसका मुख्य पहलू आरम्भिक दौर में राज्य द्वारा निर्दिष्ट संरक्षणवाद और औद्योगिकीकरण था, राज्य के हस्तक्षेप द्वारा अनिवार्य समझौतों की व्यवस्था समूचे पूँजीपति वर्ग के दीर्घकालिक सामूहिक वर्ग हितों की सेवा के लिए अधिक अनुकूल थी। यानी श्रम और पूँजी के बीच राज्य की मध्यस्थता द्वारा स्थापित क़रार पूँजी के हितों की ही रक्षा कर रहा था और आज भी करता है। राज्य की यह मध्यस्थता तमाम श्रम व फ़ैक्टरी अधिनियमों, श्रम विभाग, फ़ैक्टरी इंस्पेक्टोरेट आदि के ज़रिए अमल में लायी जाती रही है।

इसके अलावा, इन श्रम क़ानूनों के ज़रिए मज़दूर वर्ग को औपचारिक तौर पर तो यूनियन बनाने का अधिकार दिया गया लेकिन साथ ही इस बात के भी पर्याप्त प्रावधान किये गये कि पूँजीपति किसी भी फ़ैक्टरी या उपक्रम में मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने वाली असली यूनियन को मान्यता ही न दे। संगठित मज़दूर आन्दोलन के भीतर मौजूद तमाम चुनावी पार्टियों से सम्बद्ध ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशनों की उपस्थिति और उनके बीच आपसी टकराव और बँटवारे को बहाना बनाकर प्रतिनिधि यूनियन के निर्धारण का प्रश्न राज्य द्वारा जानबूझकर अनसुलझा छोड़ा गया। जिसका अर्थ यह था कि मालिक वास्तविक यूनियन से वार्ता या समझौता करने को बाध्य नहीं थे और जेबी फ़र्ज़ी यूनियनों को खड़ा करके संघर्षों को ख़त्म करवा सकते थे। तमाम यूनियनों द्वारा गुप्त मतदान प्रणाली के ज़रिए यूनियन प्रतिनिधित्व को तय करने की माँग को राज्य द्वारा हमेशा नज़रअन्दाज़ किया जाता रहा है।

इसके साथ ही **इन श्रम क़ानूनों की तहत हड़ताल करने के अधिकार और सामूहिक मोलभाव के अधिकार को महज़ काग़ज़ी अधिकार बना दिया गया। क़ायदे से किसी भी पूँजीवादी लोकतांत्रिक देश में भी हड़ताल का अधिकार मूलभूत संवैधानिक अधिकार होना चाहिए। लेकिन हमारे देश में तो हड़तालों को "ग़ैर-क़ानूनी" घोषित किये जाने का लम्बा काला इतिहास है।** भारत के संविधान में एकत्र होने और संघ बनाने का अधिकार तो है लेकिन हड़ताल का अधिकार और मालिकों द्वारा यूनियन को मान्यता देने के अधिकार मूलभूत अधिकारों में शामिल नहीं हैं। यानी मज़दूरों से जुड़े सभी वास्तविक अधिकार औपचारिक हैं और असलियत में दन्त-नख विहीन हैं।

आज़ादी के तत्काल बाद पूँजीवादी विकास के पथ की आरम्भिक बाध्यताओं के चलते, जिसमें देश के मज़दूर वर्ग का सहयोग नवोदित पूँजीपति वर्ग के लिए आवश्यक और वांछनीय था, राज्य के हस्तक्षेप के ज़रिए कुछ हद तक पूँजीपतियों द्वारा यूनियनों की माँगे मानी गयी थीं लेकिन 1970 के दशक के मध्य से इस स्थिति में भारी परिवर्तन आया। इसी दौर में राज्य द्वारा "मज़दूरों की भागीदारी" और "पहलक़दमी" के नाम पर मज़दूरों को आन्दोलन में यूनियनों की नेतृत्वकारी भूमिका से अलग करने और काटने की कोशिशें की गयीं। ज़ाहिरा तौर पर, बिना अपने राजनीतिक नेतृत्व के मज़दूर वर्ग युद्ध में एक ऐसी सेना के समान है जिसके सेनापति को दुश्मन पक्ष ने ख़त्म कर दिया हो। इसके अलावा अन्य कई मज़दूर-विरोधी संशोधन भी ट्रेड यूनियन सम्बन्धी क़ानूनों में इस दौर में और उसके बाद भी किये जाते रहे।

हमने ऊपर भी चर्चा की थी कि ट्रेड यूनियन अधिनियम यूनियनों के पंजीकरण का प्रावधान तो करता है लेकिन यह क़ानून मालिकों को किसी यूनियन को मान्यता देने और उससे बातचीत या वार्ता करने के लिए बाध्य नहीं करता है। इसलिए सामूहिक मोलभाव और हड़ताल करने के अधिकार महज़ औपचारिक अधिकार बनकर रह जाते हैं और मज़दूर प्रभावतः राज्य और पूँजीपतियों के रहमो-करम पर रहते हैं। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 भी मज़दूर वर्ग के इन बुनियादी अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए कोई प्रावधान नहीं करता है। लेकिन श्रम विभाग, फ़ैक्टरी इंस्पेक्टोरेट, जाँच न्यायालय, निर्माण समिति, परिवेदना निवारण, सुलह निकाय आदि संस्थाओं के ज़रिए "औद्योगिक शान्ति" को बनाये रखने के लिए वस्तुतः पूँजी के हितों को ही साधता है।

हम देख सकते हैं कि इन तमाम श्रम व औद्योगिक क़ानूनों का मक़सद एक दौर में संगठित क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप और मध्यस्थता के ज़रिए श्रम और पूँजी के बीच "युद्ध विराम" या क़रार स्थापित करना था जिसमें ज़ाहिरा तौर पर पूँजी का हाथ ही ऊपर रहता था। हालाँकि 1970 के दशक के मध्य से ही यह स्थिति बदलती है जब पहले पूँजीपति वर्ग का आर्थिक संकट और बाद में पूँजीवादी राज्य का राजनीतिक संकट (आपातकाल के रूप में) उभरकर सामने आता है।1970 के दशक से शुरू हुई ये नीतियाँ उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के आगमन के साथ परवान चढ़ती हैं जिसमें राज्य खुलकर पूँजी के हितों की चाकरी करता हुआ नज़र आता है। हालाँकि इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि इस दौर से पहले पूँजीवादी राज्य ऐसा नहीं कर रहा था, फ़र्क़ बस इतना है कि राज्य द्वारा पूँजी के हित-साधन के तौर-तरीक़ों में बदलाव आये हैं।

मज़दूर वर्ग की विश्वासघाती और उसके हक़-हुक़ूक की सौदागर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों, विशेष तौर पर संशोधनवादी संसदीय वामपन्थी पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियनों की भूमिका पर भी यहाँ बात करना प्रासंगिक होगा। इन सामाजिक जनवादी ट्रेड यूनियनों का सबसे बड़ा पाप संगठित क्षेत्र के मज़दूर आन्दोलन का एक ख़ास क़िस्म का विराजनीतिकरण कर उसे जुझारू अर्थवाद और ट्रेड यूनियनवाद की अन्धी गलियों में ले जाकर फँसाना तो है ही; साथ ही, क़ानूनवाद के ज़रिए मज़दूर आन्दोलन की धार को कुन्द करना भी है जिसने श्रम क़ानूनों में प्रदत्त प्रावधानों को ही संघर्ष का अन्तिम छोर बना दिया है।

आज फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा श्रम क़ानूनों में खुले तौर पर पूँजी परस्त बदलावों का विरोध भी ये संशोधनवादी ट्रेड यूनियनें अतीत के किसी कल्पित स्वर्णिम युग के 'नास्टैल्जिया' की ज़मीन पर खड़े होकर करती हैं। जैसा कि हमने उपरोक्त चर्चा में देखा ऐसा कोई "स्वर्णिम युग" श्रम क़ानूनों के सन्दर्भ में भी भारत में किसी दौर में नहीं रहा था। भारतीय पूँजीवाद के विकास के हर दौर में ही श्रम व फ़ैक्टरी अधिनियम पूँजीपतियों और फ़ैक्टरी-कारख़ानों के मालिकों के हितों को ध्यान में रखकर ही बनाये गये थे और लागू किये गये थे। इसलिए इन "लाल" ट्रेड यूनियनों का इस अतीत को लेकर स्यापा वास्तव में अपनी मौक़ापरस्ती और आत्मसमर्पणवाद को ढाँपने का प्रयास है। संगठित मज़दूर आन्दोलन में यह इनके अर्थवादी और वर्ग सहयोगवादी कुकर्मों का ही नतीजा है कि आज भारत में फ़ासीवाद मज़दूर वर्ग के रहे-सहे अधिकार भी छीनने पर आमादा है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बंगाल से लेकर केरल तक ये संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग के साथ "सहयोग और सामंजस्य" की नसीहतें देती रही हैं! यही नहीं, औपचारिक क्षेत्र की संगठित मज़दूर आबादी को छोड़ दिया जाये तो इन संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों का आधार और ज़ोर असंगठित व अनौपचारिक मज़दूर वर्ग में काम करने और उसे संगठित करने पर कभी रहा ही नहीं और इन्होंने इस विशालकाय मज़दूर-मेहनतकश आबादी को पूँजीपतियों और मालिकों की दया पर छोड़ दिया है।

आज मज़दूर आन्दोलन श्रम क़ानूनों पर हो रहे हमलों का कारगर जवाब भी तभी दे सकता है जब वह ख़ुद को तमाम ग़ैर-राजनीतिक रुझानों जैसे कि अर्थवाद, ट्रेड यूनियनवाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, क़ानूनवाद के मकड़जाल से मुक्त कर सके। यही वे कारण हैं जिनकी वजह से अतीत में भी मज़दूर आन्दोलन, चन्द-एक तात्कालिक जीतों के अपवादों को छोड़कर, पीछे की तरफ़ धकेला गया था। आज भी श्रम व फ़ैक्टरी अधिनियमों में हो रहे बदलावों के ख़िलाफ़ संघर्ष का क्षितिज क़ानूनों में दर्ज प्रावधानों से निर्धारित नहीं होना चाहिए। मज़दूर आन्दोलन के समक्ष उपस्थित चुनौतियों का मुक़ाबला भी सार्थक तरीक़े से तभी किया जा सकता है।

आँगनवाड़ीकर्मियों ने चेतावनी प्रदर्शन के ज़रिए दी दिल्ली के दिल में दस्तक!

बिन हवा न पत्ता हिलता है, बिन लड़े न कुछ भी मिलता है!

– वृषाली

7 सितम्बर को दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों ने दिल्ली सचिवालय पर चेतावनी प्रदर्शन का आयोजन किया। यह चेतावनी प्रदर्शन 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' के बैनर तले आयोजित किया गया था। इस चेतावनी प्रदर्शन में हज़ारों-हज़ार की संख्या में यूनियन से जुड़ी कार्यकर्ताओं (वर्कर) और सहायिकाओं (हेल्पर) ने गर्मजोशी के साथ भागीदारी की। इस चेतावनी प्रदर्शन को 'बिगुल मज़दूर दस्ता' ने न केवल पुरज़ोर समर्थन दिया बल्कि इसमें शिरकत भी की। साथ ही, भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने भी इस प्रदर्शन में भागीदारी की और इसे अपना पूर्ण समर्थन दिया।

केन्द्र और दिल्ली सरकार दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों के हितों के साथ क़तई न्याय नहीं कर रही है। आँगनवाड़ीकर्मियों के हक़ों पर सरेआम डाके डाले जा रहे हैं। महँगाई बढ़ रही है लेकिन आँगनवाड़ीकर्मियों के मानदेय में कटौती की जा रही है। केजरीवाल की राज्य सरकार से लेकर केन्द्र की मोदी सरकार तक झूठे वायदे करके आँगनवाड़ीकर्मियों को बरगला रही है। दिल्ली व केन्द्र सरकार आँगनवाड़ीकर्मियों को सस्ते श्रम के स्रोत के तौर पर इस्तेमाल करने में लगी हुई है। यही कारण है कि आँगनवाड़ीकर्मियों को इतनी बड़ी संख्या में सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर होना पड़ा। चेतावनी प्रदर्शन के लिए सुबह 9 बजे से ही राजघाट पर आँगनवाड़ीकर्मियों ने इकट्ठा होना शुरू कर दिया था। इसके बाद हज़ारों की गिनती में बैनर-झण्डों-नारों के साथ महिलाकर्मियों ने दिल्ली सचिवालय की ओर कूच किया। विभिन्न छात्र-युवा-नागरिक जन-संगठनों से जुड़े सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने भी आँगनवाड़ी यूनियन के समर्थन में अपनी हाज़िरी दर्ज करायी तथा इनमें से बहुतों ने वॉलण्टियर के तौर पर चेतावनी प्रदर्शन में अपना सहयोग भी दिया। दिल्ली सचिवालय के बैरिकेड पर पहुँचकर स्टेज लगाया गया। यहाँ आँगनवाड़ी यूनियन की सभा चली। मंच संचालन का कार्यभार प्रियम्बदा और विशाल ने सँभाला। सभा को विभिन्न वक्ताओं ने सम्बोधित किया तथा राज्य व केन्द्र सरकारों की आँगनवाड़ी विरोधी और जन-विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ अपना रोष प्रकट किया। बीच-बीच में आँगनवाड़ी यूनियन की सांस्कृतिक टीम और 'विहान सांस्कृतिक मंच' के द्वारा जोशीले गीत भी पेश किये गये। विभिन्न वक्ताओं ने अपनी तक़रीरों में आँगनवाड़ीकर्मियों के संघर्ष के आगे के रास्ते और आज के सामाजिक-राजनीतिक माहौल पर खुलकर बातचीत की।

'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' की अध्यक्षा शिवानी कौल ने अपनी बातचीत में आँगनवाड़ीकर्मियों के आज के हालात और आन्दोलन के आगे के रास्ते पर विस्तार से बात की। शिवानी ने आँगनवाड़ीकर्मियों के अतीत के संघर्षों की याददिहानी कराते हुए अपनी बातचीत की शुरुआत की। उन्होंने कहा कि आँगनवाड़ीकर्मियों ने जुझारू संघर्षों और यूनियन के तहत अपनी एकजुटता के बूते ही सरकारों को अतीत में भी हराया था और भविष्य में भी हरायेंगी। शिवानी ने अपने वक्तव्य में आगे कहा कि आँगनवाड़ी महिलाकर्मी पिछले लम्बे समय से कई तरह की परेशानियों का सामना कर रही हैं। लगभग सभी परियोजनाओं में पिछले लम्बे समय से कार्यकर्ताओं व सहायिकाओं को पूरा मानदेय नहीं दिया गया था। कई सारे आँगनवाड़ी केन्द्रों का किराया भी समय से नहीं आ रहा था। कोरोना काल के दौरान जोखिम में ज़मीनी स्तर पर कार्यरत आँगनवाड़ीकर्मियों के लिए समुचित सुरक्षा उपकरणों का इन्तज़ाम भी नहीं किया गया। आँगनवाड़ीकर्मियों ने तमाम अभावों के बावजूद भी कोरोना काल में कड़ी मेहनत की और कोरोना महामारी को हराने में अहम भूमिका निभायी लेकिन केजरीवाल और मोदी दोनों ने ही आँगनवाड़ीकर्मियों के साथ धोखा किया है। शिवानी ने आगे कहा कि हमारा मानदेय पिछली बार 58 दिन चली हड़ताल के बाद अगस्त 2017 में बढ़ाया गया था। इस बढ़ोत्तरी के बाद दिल्ली में आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं व सहायिकाओं को क्रमशः रु. 9,678 व रु. 4,839 मानदेय के तौर पर दिया जाना निश्चित हुआ था। वहीं 11 सितम्बर 2018 में प्रधानमंत्री मोदी द्वारा सभी स्कीम वर्कर्स के लिए मानदेय बढ़ोत्तरी की घोषणा की गयी थी। यह घोषणा जुमला साबित हुई और इसमें घोषित राशि के अनुसार आज तक भुगतान नहीं किया गया है। उल्टा इसके बाद दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने सितम्बर 2019 में एक अधिसूचना जारी करके अपने हिस्से में से कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं के मानदेय में से क्रमशः रु. 900 व रु. 450 घटा दिये हैं। 2017 के मुक़ाबले आँगनवाड़ीकर्मियों पर काम का दबाव काफ़ी बढ़ चुका है। इस दौरान महँगाई में भी बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। इस सबको देखते हुए दिल्ली सरकार द्वारा मानदेय घटाने का यह क़दम सरासर नाजायज़ है। दिल्ली सरकार द्वारा जारी अन्य अधिसूचनाओं के अनुसार आँगनवाड़ी केन्द्रों में कार्यरत महिलाकर्मियों के कार्यदिवस बढ़ाने और 'सहेली समन्वय केन्द्र' में आँगनवाड़ीकर्मियों की सेवाएँ लेने का भी फ़ैसला लिया गया है। एक ओर तो दिल्ली सरकार महिला सशक्तिकरण की बात कर रही है, वहीं दूसरी ओर समेकित बाल विकास परियोजना जैसी ज़रूरी स्कीमों में कार्यरत महिलाकर्मियों को कर्मचारी का दर्जा मिलना तो दूर, उन्हें न्यूनतम वेतन भी नहीं मिल रहा है। वहीं केन्द्र में बैठी मोदी सरकार की नयी शिक्षा नीति 2020 के तहत आँगनवाड़ी केन्द्रों को अब प्री-प्राइमरी स्कूलों के रूप में संचालित किया जायेगा। कई राज्यों में नयी शिक्षा नीति 2020 के तहत अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, अनिल अग्रवाल फ़ाउण्डेशन (वेदान्ता) व बिल एण्ड मेलिण्डा गेट्स फ़ाउण्डेशन जैसे ग़ैर-सरकारी संस्थानों की भागीदारी के साथ इस नीति को अमली जामा पहनाने कि तैयारी शुरू कर दी गयी है। ज़ाहिरा तौर पर यह भविष्य में समेकित बाल विकास परियोजना के निजीकरण की ओर ही संकेत कर रहा है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) की ओर से सनी सिंह ने भी सभा को सम्बोधित किया। सनी सिंह ने अपने भाषण में सबसे पहले आँगनवाड़ीकर्मियों की सभी माँगों का पुरज़ोर समर्थन किया। आगे उन्होंने कहा कि मौजूदा मोदी सरकार एक फ़ासीवादी सरकार है। भाजपा ने एक तरफ़ तो पूँजीपतियों को देश की जनता के शोषण और लूट की खुली छूट दे दी है तो दूसरी तरफ़ जनता की एकजुटता को तोड़ने के लिए भाजपा और संघ परिवार दिन-रात लगे रहते हैं। मीडिया भी पूरी तरह से सरकार की मुट्ठी में है। जनता के शिक्षा-चिकित्सा जैसे बुनियादी हक़ों पर सरेआम डाका डाला जा रहा है और देश को निरन्तर साम्प्रदायिकता की आग में झोंका जा रहा है। ऐसे में हमारे सामने मौजूदा फ़ासीवादी सरकार का विकल्प खड़ा करने की बड़ी चुनौती है। तमाम अन्य पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों के अतीत और उनकी आर्थिक-राजनीतिक नीतियों के चलते हम उनसे बदलाव की कोई उम्मीद नहीं कर सकते हैं। हमें नये सिरे से मज़दूरों-मेहनतकशों, कर्मचारियों और ग़रीब किसानों के जुझारू जन-संगठन खड़े करने होंगे तथा मेहनतकश जनता का अपना स्वतंत्र पक्ष खड़ा करना होगा। इसके बाद यूनियन की वृषाली ने सभा को सम्बोधित किया। उन्होंने अतीत के स्त्री संघर्षों और आज के स्त्री आन्दोलन के समक्ष उपस्थित चुनौतियों पर बात रखी। उन्होंने कहा कि आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों को वर्ग-सचेत होने की ज़रूरत है तभी हम अपने संघर्ष को

(पेज 6 पर जारी)

आँगनवाड़ीकर्मियों ने चेतावनी प्रदर्शन के ज़रिए दी दिल्ली के दिल में दस्तक!

(पेज 5 से आगे)

समस्त मेहनतकश जनता की मुक्ति के संघर्ष के साथ जोड़ पायेंगे और पितृसत्ता के साथ-साथ पूँजीवादी ग़ुलामी से भी मुक्ति हासिल कर पायेंगे।

इसके पश्चात सभा में बिगुल मज़दूर दस्ता के योगेश ने अपनी बात रखी। योगेश ने कहा कि हमें अपने रोज़मर्रा के संघर्षों के साथ ही वर्ग-एकजुटता के आधार पर संगठिक होना होगा और इस लुटेरी व्यवस्था का विकल्प भी पेश करना होगा। ज़ाहिरा तौर पर आज के हमारे आन्दोलन भविष्य के हमारे संघर्षों के लिए कार्यशाला के समान हैं। इसके बाद सभा को करावलनगर मज़दूर यूनियन के अनन्त, नौजवान भारत सभा के अरविन्द, दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन की अदिति सिंह, बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर यूनियन के भारत ने सम्बोधित किया। सभी वक्ताओं ने अपनी यूनियनों और संगठनों की ओर से आँगनवाड़ी यूनियन की सभी माँगों का मुखर समर्थन किया। आँगनवाड़ी यूनियन की सक्रिय कार्यकर्ताओं सुनीता, सुनीता रानी, पायल और मनीषा ने भी सभा को सम्बोधित किया तथा अपने अनुभव साझा किये। इस पूरे दौरान विहान सांस्कृतिक मंच के सृजन और उनकी टीम ने सभा में समाँ बाँधे रखा।

चेतावनी प्रदर्शन की सभा के अन्त में दिल्ली राज्य की केजरीवाल सरकार के महिला एवं बाल विकास मंत्री राजेन्द्रपाल गौतम और केन्द्र की मोदी सरकार की मंत्री स्मृति ईरानी को ज्ञापन सौंपा गया। राजेन्द्र पाल गौतम के साथ यूनियन प्रतिनिधिमण्डल ने यूनियन अध्यक्षा शिवानी के नेतृत्व में वार्ता की। यूनियन की सभी माँगों पर मंत्री ने ठोस कार्रवाई का आश्वासन दिया। वार्ता में यूनियन ने स्पष्ट कहा कि यदि इस चेतावनी प्रदर्शन के बावजूद भी महिलाकर्मियों की न्यायसंगत और संवैधानिक माँगें पूरी नहीं की गयीं तो दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मी अपने संघर्ष को और भी तेज़ करेंगी।

आँगनवाड़ी महिलकर्मियों के नियमितीकरण की लड़ाई एक लम्बे और जुझारू संघर्ष के बाद ही जीती जा सकती है। और इस संघर्ष को देशव्यापी स्तर पर लड़े जाने की ज़रूरत है। 7 सितम्बर को दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों का चेतावनी प्रदर्शन कुल मिलाकर सफल रहा। यह कर्मचारी के दर्जे की लड़ाई की ओर जीत का एक क़दम है। यह प्रदर्शन साबित करता है कि आन्दोलन की सही दिशा और एकजुट संघर्ष ही हमारी जीत की गारण्टी हो सकते हैं।

दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का माँगपत्रक

1. दिल्ली व केन्द्र सरकार द्वारा आँगनवाड़ीकर्मियों को बेगार खटवाने के लिए 'सहेली समन्वय केन्द्र' खोलने की नीति व नयी शिक्षा नीति – 2020 के फ़ैसले वापस लिये जायें। बिना अतिरिक्त वेतन के आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के कार्यदिवस को बढ़ाने का फ़ैसला तत्काल वापस लिया जाये।

2. बढ़ती महँगाई के मद्देनज़र सरकार हमारे मानदेय में तत्काल प्रभाव से बढ़ोत्तरी कर कार्यकर्ता एवं सहायिका के लिए क्रमशः 18,000 रुपये व 12,000 रुपये मानदेय सुनिश्चित करे।

3. सभी आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं व सहायिकाओं को सरकारी कर्मचारी का दर्जा दिया जाये, हमें नियमित किया जाये व श्रम क़ानूनों के अन्तर्गत लाया जाये ताकि हमें रोज़गार की पक्की गारण्टी मिले।

4. सभी आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं व सहायिकाओं को ई॰एस॰आई॰, पी॰एफ़॰ व पेंशन जैसी सुविधाएँ मुहैया करायी जायें व सभी आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के लिए सामाजिक सुरक्षा कार्ड जारी किये जायें।

5. दिल्ली में कार्यरत आँगनवाड़ी कर्मियों को पिछले कुछ महीनों से पूरा मानदेय नहीं मिल रहा है, हमारे बकाया मानदेय का तुरन्त भुगतान करो।

6. दिल्ली व केन्द्र सरकार यह सुनिश्चित करें कि केन्द्र सरकार द्वारा घोषित व 1 अक्टूबर 2018 से लागू मानदेय वृद्धि की बकाया राशि (अगस्त 2021 तक 34 महीनों के लिए कार्यकर्ता व सहायिका को क्रमशः 51,000 रुपये व 25,500 रुपये) का तुरन्त भुगतान किया जाये।

7. समेकित बाल विकास परियोजना में ग़ैर-सरकारी संस्थाओं (एनजीओ) की घुसपैठ और हस्तक्षेप पर तत्काल पाबन्दी लगायी जाये। एनजीओ के निरीक्षण पर रोक लगायी जाये।

8. विधायक व उनके कर्मचारियों द्वारा आँगनवाड़ीकर्मियों को तंग करना बन्द हो, कर्मियों को चुनावी प्रचार आदि में लगाकर किये जा रहे शोषण पर तत्काल रोक लगे।

9. ब्लॉक कोऑर्डिनेटर के दुर्व्यवहार पर लगाम लगायी जाये।

10. घर-घर टीएचआर बँटवाने के बजाय पोषाहार आवण्टन की पुरानी व्यवस्था बहाल की जाये।

11. कोविड महामारी के दौरान कार्यरत महिलाकर्मियों के लिए सुरक्षा का समुचित इन्तज़ाम किया जाये व उनके संक्रमित होने की स्थिति में उचित इलाज की ज़िम्मेदारी विभाग द्वारा उठायी जाये।

12. 'समेकित बाल विकास परियोजना' (आई.सी.डी.एस.) में किसी भी प्रकार के निजीकरण पर रोक लगायी जाये।

13. रजिस्टर व पोषण ट्रैकर ऐप में से केवल एक की एण्ट्री को मान्यता दी जाये।

14. आँगनवाड़ी केन्द्रों व इलाक़ों में इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री का इन्तज़ाम विभाग द्वारा किया जाये। यह ज़िम्मेदारी आँगनवाड़ीकर्मियों पर नहीं थोपी जाये।

15. आई.सी.डी.एस. योजना में रिक्त पदों पर तत्काल भर्ती की जाये। सुपरवाइज़र पद पर पदोन्नति (प्रमोशन) आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं में से ही की जाये और योग्य आँगनवाड़ी सहायिकाओं का 'प्रमोशन' कार्यकर्ताओं के तौर पर किया जाये। इस प्रक्रिया को पूरी तरह 'पारदर्शी' बनाया जाये।

16. जिन आँगनवाड़ीकर्मियों को 'पैनल' या 'लीव' पर रखा गया है, उन्हें तत्काल पारदर्शिता के साथ नियमित किया जाये। 2021 में नियमित की गयी पैनल वर्कर्स के लेटर तुरन्त जारी किये जायें।

17. आँगनवाड़ी का बजट बढ़ाया जाये व आँगनवाड़ी केन्द्रों की गुणवत्ता सुधारी जाये। आबादी के अनुसार नये केन्द्र खोले जायें व 'एडिशनल चार्ज' का सिस्टम ख़त्म किया जाये।

18. आँगनवाड़ी केन्द्रों के चुनावी पार्टियों द्वारा इस्तेमाल पर रोक लगायी जाये।

19. आँगनवाड़ीकर्मियों की बन्द की गयी पेंशन पुनः बहाल की जाये।

20. आँगनवाड़ी केन्द्रों के किराये का समय पर भुगतान किया जाये।

21. शिक्षा विरोधी और जन-विरोधी 'नयी शिक्षा नीति – 2020' रद्द की जाये!

22. 'आवश्यक वस्तु अधिनियम – 1955' में किये गये जनविरोधी बदलाव तत्काल रद्द किये जायें।

केजरीवाल की हिन्दुत्व व राष्ट्रवाद की राजनीति

– भारत

बीते दिनों आम आदमी पार्टी ने उत्तर प्रदेश में आगामी विधानसभा चुनाव के मद्देनज़र रैली का आयोजन किया। रैली की शुरुआत अयोध्या से की गयी, जहाँ राम मन्दिर बनने वाला है। रैली में आम आदमी पार्टी के नेताओं ने स्पष्ट किया कि यूपी में असल में रामराज्य सिर्फ़ आम आदमी की सरकार ही ला सकती है। मनीष सिसोदिया, संजय सिंह ने कहा कि आम आदमी पार्टी ही सही मायने में 'सच्चे राष्ट्रवाद' की वाहक है, भाजपा नहीं!

असल में यही आम आदमी पार्टी (आप) की सच्चाई है और उनकी वैचारिक परिणति भी यही है। 'मज़दूर बिगुल' में हमने बहुत पहले ही इस सम्भावना की ओर इशारा किया था कि केजरीवाल की राजनीति दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति है, जिसमें हिन्दुत्व की राजनीति से गलबँहियाँ करने की पूरी सम्भावना है। तब तमाम संशोधनवादी पार्टियाँ और यहाँ तक कि कुछ कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी केजरीवाल परिघटना के गुण गा रही थीं। आज केजरीवाल छोटा मोदी बनने के प्रयास में आर.एस.एस. का कच्छा पहन चुका है। जहाँ एक तरफ़ योगी उत्तर प्रदेश को रामराज्य बना ही रहा है, वहीं 'आप' भी उत्तर प्रदेश में रामराज्य लाना चाहती है। उत्तराखण्ड को हिन्दुओं की पुण्यभूमि बनाने की बात भी इन्होंने कही। इसी रामराज्य की बानगी सीएए-एनआरसी के आन्दोलन में देखने को मिली जब सच्चा राष्ट्रवाद दिखाते हुए केजरीवाल ने कहा कि दिल्ली पुलिस हमारे कण्ट्रोल में हो तो एक घण्टे में शाहीन बाग़ को ख़ाली करा देंगे। इसके साथ ही पूरे सीएए- एनआरसी आन्दोलन से लेकर उमर ख़ालिद और अन्य राजनैतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी में इन्होंने भाजपा का समर्थन ही किया। दिल्ली दंगों में भी ये किस प्रकार 'शान्ति' क़ायम कर रहे थे यह भी सबके सामने है।

आम आदमी पार्टी का 'सही-सच्चा राष्ट्रवाद' उस समय भी दिखा था, जब कश्मीर से धारा 370 हटायी गयी थी। केजरीवाल और उसके सभी सांसदों ने भाजपा द्वारा लाये इस जनविरोधी फ़ैसले का स्वागत किया। केजरीवाल ने कहा था कि उम्मीद है इससे कश्मीर में जल्दी विकास होगा। आम आदमी पार्टी के लिए कश्मीर की जनता का दमन सही राष्ट्रवाद है और विकास का प्रतीक है।

इसके अलावा राम मन्दिर के मुद्दे पर भी केजरीवाल हिन्दुत्व का राग अलापते हुए भाजपा के सुर में सुर मिला रहा था। राम मन्दिर ट्रस्ट घोटाले में भाजपा का विरोध करने की नौटंकी करते हुए इनके नेताओं ने कहा कि भाजपा 115 करोड़ हिन्दुओं की आस्था को चोट पहुँचा रही है। यानी अब आम आदमी पार्टी "हिन्दुओं की तारणहार" बनने का भी दम भरने लगी है। यही दर्शाते हुए आम आदमी पार्टी राम दर्शन, तिरंगा यात्रा से चुनाव में उतर रही है।

'आम आदमी-आम आदमी' की रट लगाने, 'सदाचार और ईमानदारी' का ढोल बजाने के बावजूद इस पार्टी की विचारधारा और राजनीति विशेष तौर पर छोटे और मँझोले लेकिन साथ ही बड़े पूँजीपतियों, मालिकों, ठेकेदारों, दलालों, बिचौलियों, दुकानदारों और व्यापारियों की सेवा करती है।

तथाकथित प्रगतिशील और उदारवादी तबक़े का एक हिस्सा भी आम आदमी पार्टी को भाजपा के विरोध के लिए ज़रूरी मानता है। इसी कारण दिल्ली के विधानसभा चुनाव में भी इन प्रगतिशीलों ने आम आदमी पार्टी का समर्थन किया था, ताकि भाजपा को हराया जा सके। सत्ता में आये केजरीवाल को छः साल हो गये हैं। तमाम हवा-हवाई दावों के बावजूद दिल्ली के मज़दूरों-मेहनतकशों के हालात बद से बदतर बने हुए हैं। कारख़ानों में श्रम क़ानून लागू नहीं होते, आये-दिन फ़ैक्टरियों में आग लगने से मज़दूरों की मौतें होती हैं। झुग्गियों में रहने वाली दिल्ली की बड़ी आबादी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में जी रही है। मज़दूर आन्दोलनों का दमन करने में केजरीवाल भी भाजपा से कम नहीं है। यह पार्टी किस तरह भाजपा की विचारधारा को खाद-पानी डाल रही है, यह इसी से पता चलता है कि कपिल मिश्रा जैसे दंगाई भी इसी पार्टी से निकले हैं।

इसीलिए आज ज़रूरत है भाजपा-कांग्रेस से लेकर आम आदमी पार्टी जैसी पूँजीपति वर्ग की सभी पार्टियों के ख़िलाफ़ अपनी वर्गीय एकजुटता क़ायम कर मज़दूरों-मेहनतकशों की क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करें, जिसका अन्तिम लक्ष्य मज़दूरों का अधिनायकत्व स्थापित करना हो। विशेष तौर पर, मज़दूर वर्ग को यह समझ लेना चाहिए कि हिन्दुत्व की फ़ासीवादी राजनीति और धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति हमारे लिए सबसे ज़्यादा ज़हरीली है, यह हमें और हमारी वर्ग एकजुटता को भीतर से तोड़ देने और हमें पूँजीपतियों का ग़ुलाम बनाने का काम करती है। किसी भी क़ीमत पर हमें धार्मिक उन्माद में नहीं बहना चाहिए और समझना चाहिए कि असल में हमारी एक ही जमात है: मज़दूर वर्गीय जमात; और इसलिए हमारे साझा हित हैं, चाहे हममें से किसी की कोई भी धार्मिक आस्था हो या कोई भी न हो। शासक वर्ग में पहले ही इस तरह की एकता है। इसीलिए पूँजीपति वर्ग के चाहे हिन्दू नुमाइन्दे हों या फिर मुसलमान नुमाइन्दे, वे एक दूसरे की होली-दिवाली और इफ़्तार पार्टी में जाते हैं, एक-दूसरे से रोटी-बेटी के रिश्ते भी अक्सर बनाते हैं, लेकिन हमें बताते हैं कि हम आपस में सिर फोड़ लें। केजरीवाल और आम आदमी पार्टी भी यही राजनीति कर रही है। ये आस्तीन के साँप हैं, जिनसे मज़दूरों को बिल्कुल सावधान रहना चाहिए।

वज़ीरपुर के मज़दूर आन्दोलन को पुन: संगठित करने की चुनौतियाँ

– सनी

22 अगस्त को सी-60/3 फ़ैक्टरी में पॉलिश के कारख़ाने में छत गिरने से एक मज़दूर की मौत हो गयी। सोनू नाम का यह मज़दूर वज़ीरपुर की झुग्गियों में रहता था। मलबे के नीचे दबने के कारण सोनू की तत्काल मौत हो गयी, हादसा होने के बाद फ़ैक्टरी पर पुलिस पहुँची और पोस्टमार्टम के लिए मज़दूर के मृत शरीर को बाबू जगजीवन राम अस्पताल में ले गयी। मुनाफ़े की हवस में पगलाये मालिक की फ़ैक्टरी को जर्जर भवन में चलाने के कारण एक बार फिर एक और मज़दूर को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इस मौत के लिए केजरीवाल सरकार भी ज़िम्मेदार है जो केवल काग़ज़ों पर श्रम क़ानून लागू करती है। आम आदमी पार्टी (आप) के पार्षद से लेकर विधायकों की फ़ैक्टरियों तक में श्रम क़ानून लागू नहीं होते हैं। वज़ीरपुर के पार्षद विकास गोयल और विधायक राजेश गुप्ता ने आज तक फ़ैक्टरियों में श्रम क़ानूनों को लागू करवाने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया। मोदी सरकार श्रम क़ानूनों को इसलिए ही ख़त्म कर रही है ताकि फ़ैक्टरियों में होने वाली इन मौतों की ज़िम्मेदारी से मालिकों को मुक्त किया जा सके।

वज़ीरपुर में सोनू की मौत फ़ैक्टरी में सुरक्षा के अभाव में होने वाली कोई पहली घटना नहीं है। परन्तु कोरोना की दूसरी लहर के बाद वज़ीरपुर में घटित हुई घटनाओं में से यह पहली थी। इस घटना के बाद दलालों ने मज़दूर परिवार को मुआवज़ा दिलाने के लिए घेर लिया। मुआवज़ा मिला भी और साथ में सभी दलालों को और पुलिस प्रशासन को मालिक से अपना हिस्सा भी मिल गया। इस घटना में भी मालिक पर मामूली धाराएँ लगीं और वह थाने से ही छूट गया। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन द्वारा हस्तक्षेप कर श्रम विभाग का घेराव किया गया परन्तु श्रम विभाग ने ख़ुद को मुआवज़ा दिलाने की प्रक्रिया तक ही सीमित रखा और फ़ैक्टरी की जाँच करने से इन्कार कर दिया। मुआवज़ा दिलवाने की प्रक्रिया में मामले को ज़्यादा तूल न दिया जा सके इसलिए पुलिस ने हर हमेशा की तरह दलालों के ज़रिए सोनू के परिवार को घर वापस भेज दिया।

घटना का अंजाम

पार्षद विकास गोयल ने इस घटना पर केवल अपना फोटो खिंचवाया और यूनियन द्वारा सवाल पूछे जाने पर घटना स्थल से खिसक गये। सच यही है कि वज़ीरपुर से लेकर बवाना में कभी छत गिरने से, कभी आग लगने से और कभी मशीन में फँसकर मज़दूरों की मौत होना आम बात है। हर ऐसी मौत पर प्रशासन मालिकों को बचाता है। वज़ीरपुर की घटना में भी अभी तक मालिक के ख़िलाफ़ कोई सख़्त कार्रवाई नहीं की गयी। केजरीवाल सरकार के विधायक-निगम पार्षद ख़ुद कारख़ाना मालिक हैं, जो अपने कारख़ानों तक में श्रम क़ानून लागू नहीं करते। इसलिए पूरी दिल्ली में मालिकों को मज़दूरों को लूटने की खुली छूट है। श्रम उपायुक्त ने औद्योगिक क्षेत्र का सर्वेक्षण करने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि उन्हें केन्द्र सरकार की ओर से निर्देश है कि वह स्वयं फ़ैक्टरी जाँच ना करें। यह फ़ैक्टरी एक्ट 1948 की धारा-9 का उल्लंघन है। यह हाल अभी से ही है जबकि अभी तक श्रम क़ानूनों को हटाने और निष्प्रभावी बनाने के लिए मोदी सरकार द्वारा पास की गयी श्रम संहिताएँ लागू नहीं हुई हैं।

इस घटना के बाद दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन ने तीन दिन सघन प्रचार अभियान चलाये व जुलूस भी निकाला परन्तु मज़दूरों में रोष की भारी कमी थी और एक हताशा का माहौल था, मानो लोगों ने इस प्रकार की घटनाओं को स्वीकार्य मान लिया हो। मज़दूर इन मौतों को अपनी नियति मान बैठे हैं। हालाँकि यह निराशा देश और दिल्ली के मज़दूरों में आम तौर पर मौजूद है परन्तु वज़ीरपुर में इसके ठोस कारण हैं।

2014 में वज़ीरपुर में गरम रोला के सेक्टर की हड़ताल पूरे औद्योगिक क्षेत्र की हड़ताल बन गयी थी। हड़ताल में जीत हासिल हुई परन्तु फ़ैक्टरियों के अन्दर संघर्ष जारी न रख पाने के बाद मज़दूरों द्वारा जीते हुए कुछ हक़ मालिकों ने वापस ले लिये। मज़दूरों की यूनियन के नेतृत्व में तब से लेकर अभी तक मज़दूरों को कई हक़ों को दिलाया गया; परन्तु मज़दूरों के बीच निरन्तर क्रान्तिकारी प्रचार की कमी रही। यह कमी ख़ासतौर पर 2019 से रही। वहीं 2014 के बाद से चीनी स्टील रोल के आयात के कारण स्टील बर्तन उद्योग की गरम, ठण्डा, तपाई, तेज़ाब और कटर शाखाएँ बर्बाद हुई हैं। लॉकडाउन के दो चरणों के बाद 2014 में चल रही पच्चीस गरम रोला मशीन घटकर सात रह गयी हैं। पावरप्रेस और पॉलिश का उद्योग अभी भी बरक़रार है। झुग्गी की गलियाँ और भी सिकुड़ती जा रही हैं। रोशनी यहाँ पहुँच नहीं पाती। मज़दूरों का वेतन और काम की स्थिति भी इन गलियों की तरह सिकुड़ती जा रही है। मज़दूरों में इस कारण एक संशय और डर बना हुआ है जिसका फ़ायदा उठाकर मालिकों ने वेतन कम किया है और काम की स्थिति को और भी दूभर बनाया है। यह वस्तुगत कारण रहा है कि वज़ीरपुर का मज़दूर आन्दोलन गतिरोध का शिकार है। मालिकों की निर्बाध लूट जारी है जिसे मज़दूर अपनी नियति मानकर स्वीकार कर रहे हैं। यह आम तौर पर अधिकांशत: मज़दूर आन्दोलन की ही स्थिति है। परन्तु यह भी सच है कि मज़दूर आन्दोलन की मौजूदा स्थिति के पीछे आत्मगत शक्तियाँ भी ज़िम्मेदार हैं। क्रान्तिकारी राजनीति की ग़ैर-मौजूदगी में मज़दूर वर्ग का जुझारू तेवर छीज जाता है। अगर मज़दूर वर्ग की विचारधारा मौजूद नहीं है तो मज़दूरों में स्वत:स्फूर्त पूँजीपति वर्ग की विचारधारा हावी हो जाती है। यह वज़ीरपुर में भी हुआ है। इलाक़े में 2014 की हड़ताल का दलाल रघुराज फिर से सक्रिय हुआ है। रघुराज के साथ ही एनजीओपन्थी तत्वों का संगठन 'मज़दूर पहल' मज़दूरों में राशन व खाना बाँटकर अपनी एनजीओपन्थी राजनीति द्वारा मज़दूरों के क्रान्तिकारी संघर्ष व एकजुटता को कुन्द कर रहा है। रघुराज अब इसे धन्धा बना चुका है। अवसरवादी व एनजीओपन्थी राजनीति के जड़ जमाने के साथ ही मज़दूर वर्गीय हस्तक्षेप कमज़ोर हुआ है। ऐसी राजनीति मज़दूरों को मुफ़्त में राशन बाँटकर व सुविधाएँ देकर सरकार की ज़िम्मेदारी के प्रति मज़दूरों को राजनीतिक तौर पर सोचने ही नहीं देती है। इलाक़े में मज़दूरों के बीच पसरी हुई निराशा में अवसरवाद और मुँहजोई की फफूँद उग आयी है। इसमें एक ग़लती क्रान्तिकारी राजनीति का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन की लापरवाही की भी है। केवल वेतन-भत्ते की माँग ही नहीं बल्कि मज़दूरों के बीच उनकी रिहायश और उनकी जीवन स्थिति को लेकर भी क्रान्तिकारी राजनीतिक अवस्थिति के साथ मौजूद रहना होता है। इस कार्यभार को पूरा करने में वज़ीरपुर मज़दूर आन्दोलन के नेतृत्व ने निश्चित ही कमज़ोरी दिखायी है। यह सच है कि तकनोलॉजिकल तौर पर पिछड़ा हुआ यह उद्योग एक धीमी मौत मर रहा है क्योंकि देश के भीतर भारतीय पूँजीपतियों द्वारा उन्नत तकनोलॉजी इस्पात व इस्पात संसाधन के समक्ष और साथ ही बेहतर गुणवत्ता के चीनी आयात के सामने वह टिक नहीं पा रहा है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इसमें काम करने वाले मज़दूर इस उद्योग में नौकरियाँ गँवाते जा रहे हैं और दूसरे सेक्टरों में काम तलाश रहे हैं। यदि मज़दूर आन्दोलन का नेतृत्व इलाक़ाई तौर पर सघन राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रचार तथा जनसमुदायों के जीवन व कार्य के मुद्दों पर सतत् संघर्ष करे, तो वज़ीरपुर इस्पात उद्योग की ढलान वज़ीरपुर मज़दूर आन्दोलन की ढलान नहीं बनेगा। मज़दूर वर्ग के बीच केवल आन्दोलन एवं संघर्ष की लहर के उठान पर चढ़ने के वक़्त ही मौजूद नहीं रहा जाता बल्कि निराशा के दौर में भी मौजूद रहना होता है। मज़दूरों को उनकी जीवन स्थिति और हर सामाजिक-आर्थिक घटनाक्रम पर राजनीतिक तौर पर शिक्षित प्रशिक्षित किये बिना मज़दूरों के उभार के ग़लत राजनीति के भेंट चढ़ जाने की सम्भावना बढ़ती जाती है। वज़ीरपुर के मज़दूर आन्दोलन को पुन:संगठित करने के लिए हमें इस आत्मालोचना की रोशनी में आगे बढ़ना होगा।

"माननीयों" के मुक़दमे साल-दर-साल लम्बित क्यों ?

– गीतिका

अभी हाल ही में विधायकों के लम्बित मामलों पर कुछ ख़बरें आयीं। सीबीआई ने विभिन्न लम्बित मामलों और जाँचों के तहत 19 अगस्त को एक स्थिति रिपोर्ट प्रस्तुत की है। जिसमें ख़ास बातें इस प्रकार हैं :

- सांसदों और विधायकों के ख़िलाफ़ सीबीआई के 37 मामले लम्बित हैं। सबसे पुराना लम्बित मामला पटना में है जहाँ 12 जून 2000 को आरोपी के ख़िलाफ़ आरोपपत्र दाख़िल किया गया है।
- प्रवर्तन निदेशालय की स्थिति रिपोर्ट के अनुसार, धन शोधन निवारण अधिनियम, 2002 के तहत अपराधों से उत्पन्न मामलों में कुल 51 संसद सदस्य, वर्तमान और पूर्व दोनों आरोपी हैं।
- पिछले दो साल से कम वक़्त में लम्बित क्रिमिनल केस में 17 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई है।
- देश भर में राजनेताओं के ख़िलाफ़ 4,442 अपराधिक मामलों में सुनवाई चल रही है। इनमें से **2,556 मामले मौजूदा सांसदों और विधायकों के ख़िलाफ़ लम्बित** हैं।

सुप्रीम कोर्ट को सभी हाईकोर्ट द्वारा मुहैया कराये गये आँकड़ों से यह ख़ुलासा हुआ।

सुप्रीम कोर्ट को बताया गया कि **122 सासंद और विधायक मनी लॉण्ड्रिंग के मामले में आरोपी हैं** और ईडी उनके ख़िलाफ़ जाँच कर रही है।

वहीं 121 अन्य के ख़िलाफ़ सीबीआई ने मामला दर्ज किया है। सांसदों के ख़िलाफ़ धनशोधन रोकथाम क़ानून के तहत दर्ज मामलों में से 28 मामलों में जाँच लम्बित है और 10 मामले निचली अदालतों में आरोप तय किये जाने के चरण में हैं।

शीर्ष अदालत को यह भी बताया गया कि 2013 के मुज़फ़्फ़रनगर दंगों से सम्बन्धित 77 मामले उत्तर प्रदेश सरकार ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के तहत वापस ले लिये और इसका कोई कारण नहीं बताया। इन वापस लिये केसों में कुछ केस उम्र क़ैद की सज़ा के प्रावधान वाले थे।

आख़िर क्या वजह है कि जेलें बेगुनाहों से भरी हैं और अपराधी बरी हैं। वजह यह है कि न्याय-क़ानून व्यवस्था आदि आम तौर पर केवल मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए होते हैं। कहने के लिए पूँजीवादी जनवाद क़ानून के समक्ष स्वतंत्रता की बात करता है। लेकिन वास्तव में, इनका असली मक़सद अमीरों और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा होती है। जहाँ अमीर ही अमीरों के ख़िलाफ़ अपराध करते हैं, वहीं पर हमें अमीरों की सज़ाओं के कुछ उदाहरण मिलते हैं। लेकिन जहाँ निशाने पर ग़रीब मेहनतकश जनता होती है, वहाँ हमें अमीरों को सज़ा के उदाहरण बिरले ही देखने को मिलते हैं। लेकिन अगर कभी कोई ग़रीब-मेहनतकश आवाज़ उठाता है या वे मिलकर आन्दोलन या हड़ताल करते हैं, तो समूचा पुलिस महकमा, न्यायपालिका और नौकरशाही चाक-चौबन्द होकर "क़ानून" करने को हाज़िर हो जाती है। यह इस समूची पूँजीवादी व्यवस्था और उसके क़ानूनी तंत्र की असलियत को उजागर करता है।

क्रान्तिकारी जर्मन कवि व नाटककार ब्रेष्ट की एक कविता 'वो सबकुछ करने को तैयार', की पंक्तियाँ हैं :

क़ानूनी किताबें उनकी....
जज और जेलर तक उनके...
सभी अफ़सर उनके...

पूँजीवादी दौर में सत्ता का चरित्र वास्तव में पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का ही होता है। यह संसदीय जनवाद और पूँजीवादी चुनावों की चादर में लिपटा होता है। पूँजीपति वर्ग की कोई पार्टी ज़्यादा दमनकारी रवैया रखती है, तो कोई थोड़ा उदार होने का दिखावा करती है, यानी थोड़ी लीपापोती करती है। अपने देश में आजकल भाजपा के नेतृत्व में एक फ़ासीवादी सरकार का शासन है जो मज़दूरों-मेहनतकशों के ख़िलाफ़ खुले दमन के तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल करती है।

जब तक वर्ग क़ायम हैं, क़ानून सत्ता द्वारा अपने वर्ग हित को साधने और विरोधी वर्ग को क़ाबू में रखने के लिए ही इस्तेमाल किया जायेगा। कोई ईमानदार आदमी व्यवस्था में घुसकर व्यवस्था को बदल नहीं सकता। आप जस्टिस लोया की हत्या भूले नहीं होंगे। इसी तरीक़े से 28 जुलाई को एडिशनल डिस्ट्रिक्ट जज उत्तम आनन्द की बिहार के धनबाद में हत्या कर दी गयी। वह झरिया के एम.एल.ए. संजीव सिंह के क़रीबी रणंजय सिंह के केस की सुनवाई कर रहे थे। सी.सी.टी.वी. फ़ुटेज में साफ़ दिख रहा है कि ऑटो जज को जानबूझकर टक्कर मार रहा है। ऑटो चालक ने अपना गुनाह भी क़बूल कर लिया था मगर 27 अगस्त को सीबीआई ने हाईकोर्ट को जो रिपोर्ट सौंपी है उसके बारे में चीफ़ जस्टिस डॉ. रवि रंजन और जस्टिस सुजीत नारायण प्रसाद की अदालत ने कहा कि रिपोर्ट में जज के ख़िलाफ़ कोई षड्यंत्र या टक्कर मारने के उद्देश्य का कोई ज़िक्र नहीं है।

क्या अभी भी आपको लगता है कि न्यायपालिका का पूँजीवादी व्यवस्था से स्वतंत्र अपना कोई अस्तित्व है? अगर कुछ केसों में कभी-कभी जनता के पक्ष में न्याय दे दिया जाता है तो सिर्फ़ इसलिए कि आम जनता का पूँजीवादी व्यवस्था से मोहभंग न हो। पर ये अपवाद केवल नियम को सही साबित करते हैं और नियम यह है कि पूँजीवाद में न्याय तक पहुँच केवल पूँजीपति वर्ग और उसकी चाकरी करने वाले खाते-पीते मध्यवर्ग की है। मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के लिए इसका तानाशाही वाला चरित्र एकदम साफ़ होता है।

लखीमपुर खीरी हत्याकाण्ड
फ़ासिस्ट योगी-मोदी सरकार का बेनक़ाब होता चेहरा!

(पेज 1 से आगे)

जाने से ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला था क्योंकि वह एक अस्मितावादी दलित संगठन के नेता हैं और उनके आह्वानों की अनुगूँज फ़ार्मर आबादी में नहीं सुनाई देने वाली थी और न ही वह ऐसा कोई आह्वान करने वाले थे, जिससे कोई ज़्यादा फ़र्क़ पड़ता। बीते वर्षों में रावण जैसे अस्मितावादी दलित नेताओं की राजनीति का चरित्र भी सामने आया है और उनकी शुरुआती रैडिकल धार भी जाती रही है। इसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकता था क्योंकि जातिगत उत्पीड़न के विरुद्ध भी लड़ाई एक वर्गीय नज़रिए से ही लड़ी जा सकती है, न कि अस्मितावादी नज़रिए से।

बहरहाल, लखीमपुर खीरी की यह घटना फ़ासीवाद के बारे में इस सच्चाई को साफ़ तौर पर उजागर करती है: **फ़ासीवादी सत्ता पूँजीपति वर्ग की एक ख़ास प्रकार की सत्ता है जो राजनीतिक व आर्थिक संकट के फलस्वरूप पैदा होती है और वह किसी भी प्रकार के विरोध को बर्दाश्त नहीं करती।** जैसे-जैसे फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में सुदृढ़ होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनका यह रवैया भी ज़्यादा से ज़्यादा नग्न तौर पर प्रकट होता जाता है। मोदी सरकार और विशेष तौर पर योगी सरकार के साथ यह बात स्पष्ट होती जा रही है। फ़ार्मरों के आन्दोलन के प्रति भी फ़ासीवादी सरकार यह रवैया अपनाती जा रही है।

यह सच है कि यदि मज़दूर वर्ग ऐसा कोई आन्दोलन करता, तो फ़ासीवादी सरकार उसके प्रति यह रवैया पहले दिन ही अपना चुकी होती। लेकिन फ़ासीवाद की यह ख़ासियत है कि समय बीतने के साथ उसका बर्बर चेहरा और भी क्रूर होता जाता है और उसके फ़ासीवादी दमन की ज़द में शासक वर्ग के वे हिस्से भी आ सकते हैं, जो उसके प्रति विरोध का रवैया अपनाते हैं। कल को इसके निशाने पर सीधे तौर पर विपक्षी पार्टियाँ भी आ सकती हैं, जो कि किसी भी रूप में फ़ासीवादी निज़ाम के लिए कोई असुविधा पैदा करें। हालाँकि विपक्ष की हिन्दुस्तान में जो हालत हो चुकी है, उसमें इसकी गुंजाइश न के बराबर है कि वह फ़ासीवादियों के लिए कोई ख़ास असुविधा या दिक़्क़त पैदा भी कर पायेंगे।

लेकिन फ़ार्मर आन्दोलन से उन्हें जब और जहाँ असुविधा होगी, वहाँ फ़ासीवादी सत्ता इस प्रकार के काण्ड को अंजाम दे सकती है। वास्तव में, फ़ार्मरों को विरोध करने के उनके जनवादी अधिकार से वंचित करने की यह एक कोशिश थी। बेशक मज़दूर वर्ग धनी फ़ार्मरों व कुलकों द्वारा उठायी जा रही माँगों से सहमत नहीं हो सकता है क्योंकि ये माँगें न सिर्फ़ मज़दूर वर्ग के हितों के विपरीत जाती हैं बल्कि ये आम मेहनतकश जनता के हितों के विपरीत भी जाती हैं क्योंकि लाभकारी मूल्य (एमएसपी) की व्यवस्था अनाज की महँगाई को ग़रीब मेहनतकश जनता के लिए बढ़ाती है, जबकि धनी फ़ार्मरों व कुलकों को एक बेशी मुनाफ़ा देती है। यह वर्ग पूँजीपति वर्ग का ही एक अंग है, जो खेती के क्षेत्र में मुनाफ़े में बड़ी हिस्सेदारी के लिए बड़े पूँजीपति वर्ग से लड़ रहा है। लेकिन यह लड़ाई लड़ना उसका जनवादी अधिकार है। भले ही हम उसके आन्दोलन की माँगों से सहमत न हों, हम उसके इस जनवादी अधिकार के हनन को ग़लत मानते हैं और उसके विरुद्ध लड़ते हैं। **क्यों?**

इसलिए क्योंकि जब पूँजीवादी राज्यसत्ता और विशेष तौर पर फ़ासीवादी पूँजीवादी राज्यसत्ता किसी के भी जनवादी अधिकारों का दमन करती है, तो मज़दूर वर्ग का यह क्रान्तिकारी कर्तव्य होता है कि वह उस जनवादी अधिकार की हिफ़ाज़त की लड़ाई में शामिल हो। क्योंकि आम तौर पर जनवाद की हिफ़ाज़त करना मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों की लड़ाई के लिए भी आवश्यक है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर जनवाद की हिफ़ाज़त मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन का कर्तव्य है। एक मिसाल से इसे समझिए: **यदि कोई फ़ासीवादी सरकार औपचारिक तौर पर पूँजीवादी जनवाद को भंग कर चुनावों की व्यवस्था, संसद व विधानसभाओं को भंग कर देती है, तो क्या सर्वहारा वर्ग उन्हें बहाल करने की जनवादी लड़ाई में हिस्सेदारी करेगा? बिल्कुल करेगा। क्या बुर्जुआ जनवाद को क़ायम रखना सर्वहारा वर्ग का मक़सद है? नहीं! सर्वहारा वर्ग का मक़सद सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना है। लेकिन उसके बावजूद वह बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को भंग किये जाने की मुख़ालफ़त करता है क्योंकि ये अधिकार सर्वहारा वर्ग को अपने वर्ग संघर्ष को चलाने के लिए सबसे उपयुक्त सन्दर्भ मुहैया कराते हैं। क्या एमएसपी यानी लाभकारी मूल्य का अधिकार ऐसा कोई जनवादी राजनीतिक अधिकार है? नहीं। यह धनी व ऊँचे मँझोले पूँजीवादी किसानों की वर्गीय आर्थिक माँग है, न कि कोई जनवादी अधिकार। इसलिए मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए? हम एमएसपी या लाभकारी मूल्य की खेतिहर पूँजीपति वर्ग की माँग का किसी भी रूप में समर्थन नहीं करते लेकिन हम उसके विरोध करने, प्रदर्शन करने और अभिव्यक्ति के जनवादी अधिकारों का बिना शर्त समर्थन करते हैं। राजनीतिक जनवाद की लड़ाई और वर्गीय आर्थिक माँगों की लड़ाई के बीच में जो अन्तर नहीं करता, वही इस सवाल को गड्ड-मड्ड कर सकता है। और यह गड्ड-मड्ड किया जाना मज़दूर वर्ग के लिए बेहद आत्मघाती सिद्ध होता है।**

आज जिस ग़ैर-जनवादी फ़ासीवादी रवैये का प्रदर्शन फ़ार्मरों के विरुद्ध किया गया है, वह कल और भी तत्परता से मज़दूरों के सड़क पर उतरने पर भी किया जायेगा, ग़रीब किसानों के सड़क पर उतरने पर भी किया जायेगा, छात्रों-युवाओं और मेहनतकश दलितों व स्त्रियों के सड़क पर उतरने पर भी किया जायेगा और किया जाता रहा है। अगर हम इस रवैये का विरोध नहीं करते, तो हम पूँजीवादी और विशेष तौर पर फ़ासीवादी राज्यसत्ता के "दमन करने के अधिकार" का समर्थन करते हैं। हम दमन करने की उसकी हरकत को एक आम हरकत बना देते हैं और लोगों के लिए स्वीकार्य बना देते हैं। इसके कारण फ़ासीवादी राज्यसत्ता के लिए जनता द्वारा बिना जवाबी कार्रवाई के डर के और बिना किसी दण्ड के डर के साथ इस प्रकार की दमन की कार्रवाइयाँ कर पाना ज़्यादा सहज हो जाता है। समाज में जनवादी दायरा सिकुड़ता जाता है और मज़दूर वर्ग, ग़रीब किसानों व निम्न मध्य वर्ग के लिए भी अपने हक़ों के लिए लड़ना कहीं ज़्यादा मुश्किल हो जाता है। इसीलिए सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक लेनिन ने सिखाया है कि सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी वर्ग संघर्षों के लिए सबसे उपयुक्त ज़मीन जनवाद का होना है; इसलिए सर्वहारा वर्ग ही जनवादी अधिकारों के लिए भी सबसे जुझारू और लड़ाकू तरीक़े से लड़ता है और उसे लड़ना चाहिए।

यही वजह है कि हम मज़दूरों, ग़रीब किसानों व निम्न मध्यवर्ग के मेहनतकश लोगों को 7 अक्तूबर 2021 को लखीमपुर खीरी में आन्दोलनरत फ़ार्मरों के विरुद्ध फ़ासीवादी भाजपा सरकार द्वारा किये गये हत्याकाण्ड का पुरज़ोर तरीक़े से विरोध करना चाहिए। यह उनके विरोध के जनवादी अधिकार का और इस प्रकार आम तौर पर जनवाद का गला घोंटने के लिए उठाया गया फ़ासीवादी क़दम है और सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी का यह वर्गीय कर्तव्य है कि वह धनी फ़ार्मरों के आन्दोलन की वर्गीय आर्थिक माँगों का किसी भी रूप में समर्थन किये बिना सर्वहारा क्रान्ति के आम राजनीतिक हितों के मद्देनज़र इस प्रकार की घटना की मज़बूती से मुख़ालफ़त करे।

स्वतंत्र पत्रकारिता पर हो रहे फ़ासीवादी हमलों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाओ!

– भारत

बीते दिनों न्यूज़क्लिक व न्यूज़लॉण्ड्री के दफ़्तर पर आयकर विभाग की छापेमारी हुई। कहने को तो आयकर विभाग इन न्यूज़ चैनलों के यहाँ "सर्वे" के लिए पहुँचा था लेकिन यह कैसा सर्वे था जिसमें आयकर विभाग इन न्यूज़ चैनलों की वित्तीय रिपोर्ट निकालने के बजाय वहाँ काम कर रहे लोगों के फ़ोन और लैपटॉप ज़ब्त कर रहा था? उनकी निजी जानकारियाँ इकट्ठा कर रहा था? यह बात साफ़ है कि आयकर विभाग को इन चैनलों की वित्तीय रिपोर्ट बनाने के लिए नहीं बल्कि यहाँ काम कर रहे लोगों को डराने-धमकाने और चुप कराने के लिए भेजा गया था। न्यूज़लॉण्ड्री पर 2014 में भी रेड डाली गयी थी, वहीं इसी साल फ़रवरी में न्यूज़क्लिक के दफ़्तर पर छापा पड़ा था।

मोदी सरकार के आने के बाद से अभिव्यक्ति की आज़ादी पर हमले काफ़ी तेज़ हुए हैं। सरकारी नीतियों की आलोचना करने वाले इन न्यूज़ पोर्टल्स पर हमले बढ़े हैं। याद हो कि मोदी सरकार ने सत्ता में आते ही एनडीटीवी पर एक दिन का बैन लगा दिया था। गोदी मीडिया के अलावा बाक़ी सभी मीडिया हाउस इस फ़ासीवादी मोदी सरकार की आँखों की किरकिरी बनी हुई है। आज कुछ गिने-चुने स्वतंत्र मीडिया चैनल हैं जो यूट्यूब और अलग–अलग सोशल साइटों के ज़रिए इस साम्प्रदायिक भगवा गिरोह की सच्चाई दिखाते हैं और इसका ही ख़ामियाज़ा उन्हें भुगतना पड़ रहा है।

पूँजीवादी मीडिया, जिसे वैसे तो पूँजीवादी जनतंत्र का चौथा खम्भा कहा जाता है, आज सार्विक तौर पर नंगा हो चुका है। मौजूदा दौर में गोदी मीडिया तो बस झूठी ख़बरें, फूहड़ विज्ञापन, साम्प्रदायिक-अन्धराष्ट्रवादी उन्माद की ख़ुराक दिखाने का तंत्र रह गया है। बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई जैसे मुद्दे बाहर न आ सकें इसलिए भाजपा सरकार लगातार तमाम न्यूज़ चैनलों, अख़बारों का इस्तेमाल कर अपने फ़ासीवादी सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रचार को बढ़ावा देने का काम कर रही है। साम्प्रदायिकता, उन्माद और अन्धराष्ट्रवाद के प्रचार के ज़रिए ये आम जनता की ज़िन्दगी के भौतिक और आर्थिक प्रश्नों को गोल कर जाते हैं। और इनके इस एजेण्डे के ख़िलाफ़ बोलने वाली हर आवाज़ इनके निशाने पर है।

विचारधारात्मक राज्य उपकरण ही अकेले जनता की चेतना का निर्माण नहीं करते; जनता के जीवन की स्थितियाँ सबसे पहले और निर्णायक तौर पर जनता की चेतना का निर्माण करती हैं। ऐसे में, जनता अपने शोषण और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ अपने अनुभवों से चेतना से लैस होती है। निश्चित तौर पर, ऐसी चेतना के आधार पर वह स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन ही कर सकती है, क्रान्ति नहीं। इस प्रतिरोध की चेतना को क्रान्तिकारी प्रचार के ज़रिए एक व्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। यहीं पर वैकल्पिक मीडिया के कार्यभार आते हैं। वैकल्पिक मीडिया का कार्यभार है, जनता को ऐसा व्याख्यात्मक ढाँचा मुहैया कराना जिससे वह राज्य के विचारधारात्मक उपकरणों द्वारा दी जा रही परिभाषाओं और व्याख्याओं को ख़ारिज कर सके। आज के समय में जब देश की जनता आज़ाद होने के बावजूद देशी-विदेशी पूँजी के शोषण का शिकार है, तो एक बार नये सिरे से एक नये क़िस्म की परिवर्तनकामी चेतना उनमें पैदा किये जाने की ज़रूरत है। इसके लिए क्रान्तिकारी विचारों से लैस एक पूरे वैकल्पिक मीडिया की ज़रूरत है, जो आज एक तरह से अनुपस्थित है।

अतः आज यह ज़रूरी है कि ऐसी तमाम घटनाओं का पुरज़ोर विरोध किया जाये। इसके साथ ही फ़ासीवादियों के समूचे सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रचार के मूल पर क़दम-व-क़दम हमला करना होगा और उनकी असलियत को जनता के सामने स्पष्ट करना होगा। तभी जाकर इस फ़ासिस्ट सरकार को इसके मंसूबों में नाकामयाब किया जा सकता है।

पूँजी की सेवा और मुनाफ़ा कमाने की अन्धी होड़ में लगी पूँजीवादी मीडिया के वर्चस्व के बरक्स एक वैकल्पिक क्रान्तिकारी मीडिया खड़ा करने का कार्यभार भी हमारे समक्ष है। देशभर के प्रगतिशील मीडिया संस्थानों की मुख्य ज़िम्मेदारी यह है कि उन्हें आज देश की मेहनतकश आबादी से जुड़ना होगा, उनकी समस्याओं को उजागर करना होगा। तभी जाकर इस पूँजीवादी मीडिया के नफ़रत के ज़हर के बरक्स जनता की असल समस्याएँ सही रूप में सामने आ पायेंगी और इन फ़ासीवादी हमलों का जवाब हम संगठित तौर पर दे सकेंगे।

देश के आम मेहनतकश लोगों को साम्प्रदायिक अन्धराष्ट्रवाद में बहाने के लिए इतिहास को विकृत करने की संघी साज़िशें

– अमित

उनके घरों में रेतघड़ियाँ रखी हैं
जिनमें रेत का गिरना
बन्द हो चुका है
और समय उनके लिए रुक गया है।
तब तक वे कुछ पुराने हिसाब
चुकता करेंगे
मुहम्मद गोरी और गज़नवी से लेकर
बाबर-औरंगज़ेब तक का।
तब तक वे लौटाने की कोशिश करेंगे
स्वर्ग-सा अतीत,
लाने की कोशिश करेंगे
स्वतंत्र प्रतियोगिता का स्वर्णिम युग।
पर क्यों नहीं सोच पाते कि
ध्वंस करे भीषण भले ही
कुछ समय के लिए,
गढ़ता नहीं है कभी भी
इतिहास को उन्माद!
क्यों नहीं सोचते वे कि
कई-कई दिनों तक
अलेक्ज़ेण्ड्रिया के पुस्तकालय के
जलते रहने के बाद भी,
नालन्दा और तक्षशिला के महाध्वंस
और दज़ला नदी में
फूली हुई पुस्तकों का पुल बन जाने
के बाद भी
इतिहास-बोध का वजूद नहीं मिटा,
विज्ञान जला नहीं ब्रूनो के साथ,
झका नहीं गैलीलियो के
माफ़ीनामे के साथ,
गीत मरे नहीं
नात्सी यातना-शिविरों में भी।
आख़िर वे क्यों नहीं सोच पाते कि
विपर्यय तो हुए हैं पहले भी बार-बार
पर वे नहीं बन सके हैं कभी-भी
इतिहास के नियम।
वे सोच नहीं सकते
शायद
इस नहीं सोचने पर ही
टिका हुआ है
उनका वजूद!

– कात्यायनी

फ़ासीवादी ताक़तें झूठे-मनगढ़न्त, अवैज्ञानिक और अतार्किक प्रचार के ज़रिए समाज में अपने आधार का विस्तार करती हैं। वे हर उस चीज़ का विरोध करती हैं और उन्हें नष्ट करने की कोशिश करती हैं जो उनके इस झूठ और अज्ञान पर आधारित दुष्प्रचार और मिथ्याकरण के ख़िलाफ़ समाज को तार्किक और वैज्ञानिक चेतना से लैस करती है। इतिहास के कूड़ेदान में फेंके गये जर्मनी और इटली के फ़ासिस्टों के कुकृत्य इसके साक्षी हैं। चौराहों पर किताबों की होली जलाने की तस्वीरें अभी भी हमें न केवल फ़ासिस्टों की तार्किक, वैज्ञानिक और जनवादी विचारों के प्रति नफ़रत की याद दिलाती हैं बल्कि यह भी बताती हैं कि फ़ासिस्टों की मुहिम के ख़िलाफ़ आम जनमानस के बीच में तर्कणा, जनवाद और वैज्ञानिक विचारों के प्रसार का महत्व क्या है।

इतिहास का निर्माण जनता करती है। फ़ासिस्ट ताक़तें जनता की इतिहास-निर्मात्री शक्ति से डरती हैं। इसलिए वे न केवल इतिहास के निर्माण में जनता की भूमिका को छिपा देना चाहती हैं, बल्कि इतिहास का ऐसा विकृतिकरण करने की कोशिश करती हैं जिससे वह अपनी विचारधारा और राजनीति को सही ठहरा सकें। संघ परिवार हमेशा से ही इतिहास का ऐसा ही एक फ़ासीवादी कुपाठ प्रस्तुत करता रहा है।

पिछले दिनों यूजीसी द्वारा 'लर्निंग आउटकम बेस्ड करिकुलम फ्रेमवर्क (LOCF): बीए हिस्ट्री अण्डरग्रेजुएट प्रोग्राम, 2021' प्रस्तुत किया गया। यूजीसी द्वारा प्रस्तुत इस मसौदे में इरफ़ान हबीब और रामशरण शर्मा जैसे इतिहासकारों की जगह संघ के सत्यकथा-छाप लेखकों की किताबों को पढ़ाने की बात की गयी है। यूजीसी का यह नया पाठ्यक्रम 'भारतीय इतिहास के गौरवशाली अतीत' को सामने लाने के लिए बनाया गया है। हर देश के इतिहास में कुछ गौरवशाली होता है और कुछ ऐसा भी होता है जिस पर गौरव नहीं किया जा सकता है। वर्ग संघर्षों का इतिहास ऐसा ही हो सकता है। इसलिए पूरे इतिहास पर झूठा गर्व पैदा करने का काम फ़ासीवादी शक्तियाँ अपने राजनीतिक हितों को पूरा करने के लिए कैसे करती हैं? आइए देखते हैं।

इस गौरवशाली अतीत को सामने लाने के लिए यूजीसी द्वारा पेश किये गये इस नये पाठ्यक्रम से वर्ण-जाति व्यवस्था का उद्गम ग़ायब कर दिया गया है, वहीं पूरे इतिहास के साम्प्रदायिक पाठ को पाठ्यक्रम का हिस्सा बना दिया गया है। अतीत को सामने लाने के लिए हिन्दू धर्म ग्रन्थ पढ़ाने, 'सरस्वती सभ्यता' को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाने की क़वायद शुरू की गयी है। इसी को यूजीसी के इस नये सिलेबस में 'आइडिया ऑफ़ इण्डिया' (भारत का विचार) का नाम दिया गया है। फ़ासीवादी संघ परिवार और भाजपा के नेताओं ने खुली घोषणा शुरू कर दी है कि अब किसी भी विवादित तथ्य को इतिहास में नहीं पढ़ाया जायेगा। ज़ाहिर है कि इतिहास का जो तथ्य संघ के साम्प्रदायिक-फ़ासीवादी पाठ के ख़िलाफ़ जायेगा, उसे विवादित बताकर इतिहास से बाहर कर दिया जायेगा और वह पढ़ाया जायेगा जो संघ परिवार चाहता है। इसकी शुरुआत पाठ्यपुस्तकों में हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप को विजयी घोषित करके कर दी गयी है!

इसी तरह से अभी हाल ही में दिल्ली विश्वविद्यालय की निरीक्षण समिति ने महाश्वेता देवी, बामा और सुखारथारिणी के लेखों को अंग्रेज़ी के सिलेबस से बाहर कर दिया। महाश्वेता देवी की कहानी 'द्रौपदी' एक आदिवासी महिला की कहानी है जो पितृसत्ता, ब्राह्मणवादी मानसिकता और जातिगत भेदभाव के ख़िलाफ़ लड़ रही थी। निरीक्षण समिति ने नन्दिता सुन्दर द्वारा लिखित 'सबअल्टर्न और सम्प्रभु: बस्तर का मानवशास्त्रीय इतिहास' पाठ को हटाने की कोशिश की थी। दक्षिणपन्थी शिक्षकों की ओर से 2019 में अंग्रेज़ी पाठ्यक्रम में गुजरात दंगों पर लिखी 'मनीबेन एलियास बीबीजान' को हटाने की माँग की गयी थी। उन्होंने इतिहास में नक्सलवाद और साम्यवाद-सम्बन्धी लेखों को भी हटाने की माँग की थी।

सच तो यह है कि संघ परिवार पूरे पाठ्यक्रम को अपनी फ़ासीवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के एक औज़ार में तब्दील करने में लगा हुआ है। 2019 में ही एनसीईआरटी को संघ परिवार से जुड़े संगठन शिक्षा संस्कृति उत्थान न्यास ने ग़ालिब और टैगोर की रचनाओं, क्रान्तिकारी कवि पाश की कविता, एमएफ़ हुसैन की जीवनी के अंशों, गुजरात के दंगों, मुगल बादशाहों और नेशनल कान्फ्रेंस सम्बन्धी विवरण हटाने को कह दिया था। राजस्थान में भाजपा सरकार के कार्यकाल में पाठ्यक्रम में श्यामा प्रसाद मुखर्जी, दीन दयाल उपाध्याय, के.एस. सुदर्शन आदि को शामिल कर लिया। सिंधिया को अंग्रेज़ों का मित्र बताने वाली झाँसी वाली रानी कविता को पाठ्यक्रम से बाहर कर दिया गया। मोदी सरकार द्वारा लायी गयी नयी शिक्षा नीति शिक्षा के पूरे तंत्र के फ़ासीवादीकरण का दस्तावेज़ है।

वास्तव में 2014 के बाद नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद से संघ परिवार और भाजपा द्वारा पूरे इतिहास के विकृतिकरण और भगवाकरण की यह मुहिम कई गुना तेज़ हो गयी है। संघी "विचारक" सुदर्शन राव को आईसीएचआर का प्रमुख बनाये जाने के साथ ही इतिहास में विकृतिकरण के जिस नये दौर की शुरुआत हुई वह प्रहसनात्मक त्रासदी अभी भी जारी है। विज्ञान कांग्रेस में प्राचीन भारत में विमान का आविष्कार होने, प्लास्टिक सर्जरी, स्टेम सेल आदि का ज्ञान होने जैसे मूर्खतापूर्ण दावों को फिर से दुहराया जाने लगा। नरेन्द्र मोदी द्वारा नालन्दा और तक्षशिला, नानक-कबीर और गोरखनाथ समेत पूरे इतिहास को गड्ड-मड्ड कर देना तो बस इस मूर्खता की एक बानगीभर है। शिक्षा का भारतीयकरण करने के नाम पर भगवाकरण की जो मुहिम चलायी जा रही है, उसका ध्वजवाहक दीनानाथ बत्रा को बनाया गया। दीनानाथ बत्रा की किताब 'तेजोमय भारत' से उनके इतिहासबोध का एक उदाहरण देखिए – "अमेरिका आज स्टेम सेल रिसर्च का श्रेय लेना चाहता है, मगर सच्चाई यह है कि भारत के बालकृष्ण गणपत मातापुरकर ने शरीर के हिस्सों को पुनर्जीवित करने के लिए पेटेण्ट पहले ही हासिल किया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस रिसर्च में नया कुछ नहीं है और डॉ. मातापुरकर महाभारत से प्रेरित हुए थे। कुन्ती के एक बच्चा था जो सूर्य से भी तेज़ था। जब गान्धारी को यह पता चला तो उसका गर्भपात हुआ और उसकी कोख से मांस का लम्बा टुकड़ा बाहर निकला। व्यास को बुलाया गया जिन्होंने मांस के उस टुकड़े को कुछ दवाइयों के साथ पानी की टंकी में रख दिया। बाद में उन्होंने मांस के उस टुकड़े को 100 भागों में बाँट दिया और उन्हें घी से भरी टंकियों में दो साल के लिए रख दिया। दो साल बाद उसमें से 100 कौरव निकले। महाभारत में इस क़िस्से को पढ़ने के बाद मातापुरकर को अहसास हुआ कि स्टेम सेल की खोज उनकी अपनी नहीं है बल्कि वह महाभारत में भी दिखती है।" दीनानाथ बत्रा के इन मूर्खतापूर्ण प्रलापों को बच्चों के इतिहासबोध का हिस्सा बनाने के लिए गुजरात सरकार ने बाक़ायदा सर्कुलर तक जारी कर दिये। क़ुतुबमीनार और ताजमहल के हिन्दू मन्दिर होने, मक्का में स्थित काबा के शिव मन्दिर होने, देश-दुनिया के विभिन्न शहरों और देशों के नाम का हिन्दू नाम होने जैसे इतिहास का फ़ासीवादी कुपाठ सुनने में तो मूर्खतापूर्ण लगता है लेकिन सच्चाई यह है कि इसके पीछे सोचने-समझने वाले शातिर दिमाग़ काम करते हैं।

सत्ता में न रहने पर भी संघ परिवार अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को लागू कराने के लिए तरह-तरह की साज़िशें रचता रहा है। 1964 में पीएन ओक के नेतृत्व में इन्होंनें राष्ट्रीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान की शुरुआत की। संघियों के दबाव में ही मुक्तिबोध की रचना 'भारत : इतिहास और संस्कृति' को प्रतिबन्धित किया गया था। 1977 में पहली बार सत्ता भागीदारी करने के बाद ही इस फ़ासीवादी गिरोह ने एनसीईआरटी की तमाम पुस्तकों में यह कहते हुए बदलाव कर दिया था कि वह समुदाय विशेष की भावनाओं को आहत करने वाली हैं। इसी दौर में इन्होंने इतिहासकार रामशरण शर्मा की किताब 'प्राचीन भारत' को पाठ्यक्रम से बाहर करवा दिया था। आरएसएस से जुड़ी संस्था विद्या भारती से जुड़े स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रम को एनसीईआरटी द्वारा 1996 में धार्मिक कट्टरपन्थ और संकीर्णता को बढ़ावा देने वाला पाठ्यक्रम बताया गया था। अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्री बनने के साथ ही इतिहास के विकृतिकरण की इस मुहिम की रफ़्तार कई गुना बढ़ गयी। यही वह दौर था जब सती प्रथा को गौरवान्वित करने, क़ुतुबमीनार को विष्णुस्तम्भ बताने, मुगल काल के युद्धों को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करने जैसी चीज़ों को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया गया। तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में प्राचीन भारत में लोगों के गोमांस खाने के विवरण आदि को कोर्स से हटा दिया गया। यह पढ़ाया जाने लगा कि राजा कुश ने राम मन्दिर बनाया था जिसे यवन राजा मिनाण्डर ने तोड़ दिया। भारत में आर्यों के आगमन जैसे इतिहास के कई सारे तथ्यों में बदलाव इसी दौर में किये गये। 2004 में ही भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान में शम्भाजी ब्रिगेड के गुण्डों ने घुसकर आग लगा दी और 18,000 पुस्तकों और 30,000 दुर्लभ पाण्डुलिपियों को नष्ट कर दिया। सत्ता से बाहर होने के बाद फ़ासिस्टों ने अपनी इस नफ़रती मुहिम को और उग्र तरीक़े से आगे बढ़ाया। 2008 में दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल किये गये रामानुजन के निबन्ध '300 रामायणाज़' को लेकर संघियों ने बवाल किया और इतिहास विभाग में घुसकर पुलिस की उपस्थिति में विभागाध्यक्ष से मारपीट की। रामानुजन ने इस निबन्ध में साक्ष्यों के ज़रिए दिखाया था कि भारत में रामायण के लगभग 300 संस्करण प्रचलित हैं।

जनता का इतिहास बनाम फ़ासीवाद द्वारा प्रस्तुत विकृत इतिहास

वास्तव में औपनिवेशिक इतिहास लेखन में भारत के इतिहास को विकृत रूप में पेश करते हुए यूरोपीय उपनिवेशवाद के नज़रिए के आधार पर उसकी व्याख्या की गयी। ज़ाहिर है कि इस पूरे लेखन में औपनिवेशिक हितों के हिसाब से भारत के इतिहास का पाठ प्रस्तुत किया गया। यह प्राच्यवादी व्याख्या एक तरफ़ अनैतिहासिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज को एक ठहरे हुए समाज के रूप में प्रस्तुत करती रही। वहीं दूसरी ओर औपनिवेशिक इतिहास लेखन की एक धारा ने भारतीय समाज के इतिहास को हिन्दू सभ्यता, मुसलमान सभ्यता और ब्रिटिश काल के रूप में काल विभाजित किया। इतिहास का यह विभाजन आज के समय में संघी फ़ासीवादियों के कुपाठ को भी एक आधार प्रदान करता है। ग़ौरतलब है कि संघी फ़ासिस्ट भी इतिहास की व्याख्या करते समय एक तरफ़ तो तरह-तरह के अनैतिहासिक-अनर्गल दावे करते हैं, दूसरी ओर इतिहास की इस औपनिवेशिक व्याख्या की ही तरह इतिहास में हिन्दुओं के शासन और उसके बाद मुस्लिमों की ग़ुलामी और ब्रिटिश काल के रूप में इतिहास की व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं।

इस औपनिवेशिक इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया में जो राष्ट्रवादी इतिहास-

(पेज 10 पर जारी)

इतिहास को विकृत करने की संघी साज़िशें

(पेज 9 से आगे)

लेखन शुरू हुआ, वह बहुत हद तक औपनिवेशिक प्रचार का एक जवाबी प्रचार था। डी.डी. कोसम्बी, रामशरण शर्मा, डी.एन. झा, बिपन चन्द्र, सुवीरा जायसवाल जैसे इतिहासकारों ने औपनिवेशिक इतिहास लेखन से विच्छेद करते हुए भारत के इतिहास को सामने लाने में योगदान दिया। इन इतिहासकारों ने सही तथ्यों और तर्कों तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के ज़रिए भारतीय इतिहास की सही समझ बनाने में योगदान दिया। डी.डी कोसम्बी ने प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भौतिकवादी इतिहास की नींव रखी और बाद में रामशरण शर्मा उनके कार्य को आगे बढ़ाते हुए उसे नयी ऊँचाइयों पर ले गये। इन इतिहासकारों ने इतिहास को राजा-रानी के क़िस्सों, इतिहास के अति महिमामण्डन और उसके चारों ओर लिपटे हुए मिथकीय आवरण से मुक्त कराया तथा इतिहास को गतिहीन और घटनाओं व संयोगों के समुच्चय मात्र के रूप में देखने की धारणा पर चोट की। यही वजह है कि प्राचीन भारत के इतिहास को स्वर्णयुग की तरह पेश करने और रामराज्य के नाम पर ताण्डव मचाने वाले फ़ासीवादियों को इस इतिहासबोध से सबसे ज़्यादा ख़तरा नज़र आता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डी.एन. झा ने इतिहास के भगवाकरण के ख़िलाफ़ अपने कृतित्व और लेखन के ज़रिए जमकर संघर्ष किया। उन्होंने लिखा कि 'उच्च वर्गों के लिए इतिहास के सभी युग स्वर्णयुग ही रहे हैं, लेकिन आम जनता के लिए वे कभी स्वर्णयुग नहीं रहे। जनता का वास्तविक स्वर्णयुग अतीत के गर्भ में नहीं बल्कि भविष्य के गर्भ में निहित है!' डी.एन. झा 'प्राचीन भारत', 'पवित्र गाय का मिथक' जैसी रचनाओं ने न केवल इतिहास की एक सही समझ बनाने में योगदान दिया बल्कि डी.एन. झा ख़ुद आजीवन दक्षिणपन्थी फ़ासिस्ट ताक़तों के ख़िलाफ़ मोर्चे पर डटे रहे। 'पवित्र गाय का मिथक' के प्रकाशन के बाद से ही फ़ासिस्ट उन्हें लगातार जान से मारने की धमकी देते रहे। बाद में डी.एन. झा ने विभिन्न इतिहासकारों के साथ मिलकर राम मन्दिर पर एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की और उसमें बताया कि 'न तो इस बात के कोई ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि बाबरी मस्जिद का निर्माण मन्दिर को ढहाकर किया गया था और न ही इस बात के कि भगवान राम का जन्म उसी स्थान पर हुआ था, जहाँ कथित राममन्दिर था।' ज़ाहिर है कि इतिहास के भगवाकरण के रथ के सामने खड़े डी.एन. झा फ़ासिस्टों के जानी दुश्मन थे।

डी.डी. कोसम्बी, रामशरण शर्मा, डी.एन. झा, बिपन चन्द्र, सुवीरा जायसवाल से लेकर इरफ़ान हबीब और रोमिला थापर जैसे इतिहासकारों की धारा संघी फ़ासीवादियों द्वारा इतिहास के विकृतिकरण और भगवाकरण के ख़िलाफ़ एक दीवार की तरह खड़ी है। जब बाबरी मस्जिद के ध्वंस को लेकर मुहिम चलायी जा रही थी, उस दौर में रामशरण शर्मा जैसे इतिहासकार उसको संरक्षित करने के पक्ष में इतिहास कांग्रेस में प्रस्ताव पारित करवा रहे थे। यही वजह है कि इन संघी फ़ासिस्टों द्वारा इन इतिहासकारों, इनके लेखन पर लगातार कीचड़ उछालने और हमले करने का काम जारी है। आरएसएस के मुखपत्र 'पांचजन्य' के लेखों में पिछले लम्बे समय से रामशरण शर्मा, डी.एन. झा, रोमिला थापर, सुवीरा जायसवाल जैसे इतिहासकारों पर मिशनरी विचारों से प्रेरित, हिन्दुत्व के प्रति वैर भाव रखने वाले जैसे कुत्सा-प्रचारों की बौछार की गयी है। हाल ही में संघ की शाखा से ज्ञान प्राप्त करके आये भगवान सिंह ने तो उपरोक्त इतिहासकारों के बरक्स ख़ुद को मार्क्सवादी बताते हुए इनको साम्राज्यवादी लेखन का प्रतिनिधि बता डाला है!

लेकिन जैसा कि हमने पहले बताया, फ़ासीवादी केवल इतिहास की सही समझ प्रस्तुत करने वाले मार्क्सवादी इतिहासकारों और उनके लेखन के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने तमाम संस्थाओं में घुसपैठ, पाठ्यक्रम में बदलाव आदि के ज़रिए बहुत बड़ी आबादी के इतिहासबोध को बदलने में भी सफलता हासिल की है। 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद के विध्वंस की घटना इस फ़ासीवादी मुहिम की एक प्रतीक घटना है। लम्बे समय तक जनता के बीच में यह मिथ्या प्रचार करके कि बाबरी मस्जिद को एक प्राचीन मन्दिर को तोड़कर बनाया गया है और यह उसी जगह पर बनी है जहाँ पर राम का जन्म हुआ था, फ़ासिस्टों ने देशव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। पूरे देश में बड़े पैमाने पर दंगे हुए और लोगों की लाशों को रौंदता हुआ फ़ासिस्टों का रथ अपनी मंज़िल तक तब पहुँचा जब कोर्ट ने तमाम पुरातात्विक साक्ष्यों और तथ्यों को दरकिनार करते हुए इस आधार पर फ़ासिस्टों के पक्ष में फ़ैसला दिया कि बहुसंख्यक हिन्दू यह मानते हैं कि उक्त स्थान पर राम का जन्म हुआ था। भारत के पुरातात्विक सर्वेक्षण संस्थान (ए.एस.आई.) ने अदालत को 574 पेज की रिपोर्ट सौंपी थी। कई पुरातत्वविदों ने कहा कि मन्दिर के नीचे का अवशेष 'पुराना ईदगाह' है, कुछ ने उसे बौद्ध और जैन प्रतीक क़रार दिया। खुदाई करने वाली टीम का अवलोकन करने वाली दो सदस्यों सुप्रिया वर्मा और जया मेनन ने हाई कोर्ट में कहा था कि कुछ प्रतीकों को 'हिन्दू प्रतीक' कहा जा रहा है, जबकि ये बौद्ध, जैन या इस्लामिक ढाँचे भी हो सकते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने अपने फ़ैसले में ए.एस.आई. की उसी रिपोर्ट का हवाला देते हुए कह दिया कि ज़मीन के नीचे का अवशेष 'हिन्दू अवशेष' है। वह अवशेष राम मन्दिर है या वहाँ राम का जन्म हुआ था, इस बात को स्वयं फ़ैसले में भी नहीं माना गया है।

नये ट्रांसमीटरों के ज़रिए
चली आयी पुरानी बेवक़ूफ़ियाँ,
समझदारी चली आयी मुँहज़ुबानी
(बर्टोल्ट ब्रेष्ट)

संचार-क्रान्ति के इस दौर में पूँजी का वरदहस्त पाकर संघी फ़ासीवादियों ने इतिहास के विकृतिकरण की अपनी मुहिम को नया आयाम दिया है। फ़िल्मों, टीवी चैनलों से लेकर फ़ेसबुक, व्हाट्सएप और ट्विटर जैसे सोशल मीडिया के हर पहलू पर आज फ़ासिस्टों का बोलबाला है। फ़ासिस्टों की आईटी सेल की ताक़त का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि अकेले बिहार चुनाव में भाजपा आईटी सेल ने लगभग 9,500 लोगों को तैनात किया था। आरएसएस से जुड़े फ़िल्मकार अपनी फ़िल्मों में इतिहास के सही तथ्यों को उलटकर पेश कर रहे हैं। जानबूझकर इतिहास में छेड़खानी करते हुए फ़िल्मों में मुसलमानों को दुश्मन के रूप में पेश करने, टीवी चैनलों पर इतिहास के फ़ासीवादी संस्करण पर आधारित सीरियल दिखाये जाने जैसी बातें आम हो चुकी हैं। दिन-रात विषवमन करते हज़ारों यूट्यूब चैनल दिन-रात युवाओं की बहुत बड़ी आबादी के दिमाग़ में ज़हर घोल रहे हैं।

संघी फ़ासिस्ट इतिहास को इसलिए भी बदल देना चाहते हैं क्योंकि इनका अपना इतिहास राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से ग़द्दारी, माफ़ीनामा, क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी, हिंसा और उन्माद का रहा है। जब भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में अपनी शहादत दे रहे थे तो उस दौर में संघी फ़ासिस्टों के पुरखे लोगों को समझा रहे थे कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ने की बजाय मुसलमानों और कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ लड़ना चाहिए। संघी फ़ासिस्टों के गुरु "वीर" सावरकर का माफ़ीनामा और ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफ़ादारी, अटल बिहारी वाजपेयी जैसे लोगों द्वारा मुख़बिरी और गाँधी की हत्या में संघ की भूमिका के इतिहास को अगर फ़ासिस्ट सात परतों के भीतर छिपा देना चाहते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार की इमारत को तोड़कर दस्तावेज़ों को नष्ट कर देना, ब्रिटिशकालीन फ़ाइलों को जलाकर इतिहास में अपने काले कारनामों के सबूतों को मिटा देने की कोशिश इन फ़ासिस्टों के इतिहास से भय को दर्शाती है।

भारत के फ़ासीवादी विगत एक शताब्दी में एक लम्बी प्रक्रिया में देश की हिन्दू आबादी के बड़े हिस्से में मिथकों को कॉमन सेंस ('सामान्य बोध') के रूप में स्थापित करने के लिए लगातार प्रयासरत रहे हैं और काफ़ी हद तक इसमें सफलता भी प्राप्त की है। कल्पित अतीत के गौरव की वापसी का एक धार्मिक-भावनात्मक प्रतिक्रियावादी स्वप्न "रामराज्य" की स्थापना और भारत को विश्वगुरु बनाने जैसे नारों के रूप में संघी फ़ासिस्टों ने देश की हिन्दू आबादी के बड़े हिस्से में भरा है। भारतीय समाज के ताने-बाने में तर्कणा, वैज्ञानिक चिन्तन और जनवाद का अभाव आरएसएस के फ़ासीवादी एजेण्डे के लिए उर्वर ज़मीन का काम करता है।

हमारे देश में पूँजीवादी लोकतंत्र पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के नतीजे के तौर पर नहीं स्थापित हुआ। आज़ादी के बाद भारत में नेहरू के नेतृत्व में क्रमिक पूँजीवादी विकास (प्रशियाई पाथ) का रास्ता चुना गया। पूँजीवादी विकास अपनी स्वाभाविक गति से ग्रामीण और शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग और मध्यवर्ग की एक आबादी को उजाड़कर असुरक्षा और अनिश्चितता की तरफ़ धकेलता रहता है। असुरक्षा और अनिश्चितता की यह स्थिति इस टुटपूँजिया वर्ग में प्रतिक्रियावाद की ज़मीन तैयार करती है। यह प्रतिक्रियावादी ज़मीन और जनमानस में जनवाद, तर्कणा और वैज्ञानिक चिन्तन की कमी टुटपुँजिया वर्ग को फ़ासीवादी प्रचार का आसान शिकार बना देती है। फ़ासीवाद उजड़ते और उभरते हुए टुटपुँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। यह इस टुटपुँजिया वर्ग को एक तरफ़ तो नस्लीय, जातीय, धार्मिक आधार पर एक नक़ली दुश्मन प्रदान करता है। दूसरी तरफ़ वह इसके सामने एक गौरवशाली अतीत का मिथक रचता है। भारतीय फ़ासीवादी इसी तरह लम्बे समय से देश की हिन्दू आबादी को अतीत का वह स्वप्न दिखाते रहे हैं जब इस महान जम्बूद्वीप भारतखण्ड पर स्वर्ण युग था, जिसे मुगलों तथा यवनों ने छीन लिया। आरएसएस के इस कल्पित स्वर्ण युग में वे सभी वैज्ञानिक-तकनीकी उपलब्धियाँ जो मानवता ने आज हासिल की है, वास्तव में पहले ही हासिल की जा चुकी थीं! औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की कोख से जन्मे और समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति के तहत सत्ता हासिल करने वाले भारतीय मध्यवर्ग के पास यूरोपीय मध्यवर्ग की तरह पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की तार्किकता और वैज्ञानिकता तथा मानवतावाद और जनवाद की कोई विरासत नहीं है। यह न तो आजीवक और लोकायत से परिचित है, न ही सांख्य, न्याय, वैशेषिक दर्शनों अथवा चरक और सुश्रुत की विरासत से। यहाँ तक कि निकट अतीत के कबीर, नानक, रैदास तथा राहुल सांकृत्यायन, राधामोहन गोकुल, गणेश शंकर विद्यार्थी की रचनाओं से भी इसका परिचय नहीं है और न ही इसने क्रान्तिकारी आन्दोलन की वैचारिक विरासत का ठीक से अध्ययन किया है।

पिछले सौ सालों में समाज के ताने-बाने में अपनी पैठ के ज़रिए और अनगिनत प्रयोगों, मिथ्याप्रचारों और आन्दोलनों के ज़रिए फ़ासिस्टों ने अपने फ़ासीवादी प्रचार की ज़द में एक बहुत बड़ी आबादी को ले लिया है। आरएसएस द्वारा पिछले सात दशकों से ज़्यादा समय से प्रकाशित की जाने वाली पत्रिकाओं 'पांचजन्य' और 'ऑर्गनाइज़र', अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना और विवेकानन्द फ़ाउण्डेशन जैसी संस्थाओं ने फ़ासीवादी विकृत इतिहास को आम जनमानस के बीच में पैठाने का काम किया है। आरएसएस द्वारा संचालित सरस्वती शिशु मन्दिर, विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा संचालित एकल अभियान जैसी संस्थाएँ बचपन से ही बच्चों के दिमाग़ में ज़हर घोलने का काम कर रही हैं। संघ परिवार द्वारा पूरे भारत में लगभग 18,000 सरस्वती शिशु मन्दिरों का संचालन किया जाता है।

लेकिन इतिहास हमें यह भी बताता है कि यह फ़ासीवादी उभार अप्रतिरोध्य नहीं है। किसी झूठ को हज़ार बार दुहरा दिये जाने पर भी वह झूठ ही रहता है। धूल और राख की हज़ारों परतों के नीचे दबा दिये जाने के बाद भी सच को मिटाया नहीं जा सकता। इन्क़लाब की विरासत एक पीढ़ी अपनी आने वाली पीढ़ी के दिल में रोप जाती है। मौजूदा पूँजीवादी जनवाद में जो भी थोड़ा-बहुत जनवादी स्पेस था, उसकी सम्भावना आर्थिक संकट के इस दौर में समाप्त हो चुकी है। ऐसे समय में सामाजिक ताने-बाने में तर्कणा और जनवाद के अभाव का लाभ उठाकर पूँजीवाद के इस संकट को हल करने के लिए फ़ासिस्ट सत्ता में पहुँचे हैं। इससे पूरे समाज को तार्किक, वैज्ञानिक और जनवादी चेतना से लैस करने का एक ज़रूरी कार्यभार हमारे सामने खड़ा होता है। आज के समय में फ़ासीवाद का प्रतिरोध करने के लिए खड़ी क्रान्तिकारी ताक़तों को इतिहास के परम्परा एवं परिवर्तन के द्वन्द्व के तत्वों की न सिर्फ़ ठीक-ठीक पहचान करनी होगी बल्कि सही इतिहासबोध पर हमला करने वाले फ़ासीवादी कुपाठ के साथ-साथ प्राच्यवादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, सब-ऑल्टर्न इतिहास बोध के ख़िलाफ़ भी संघर्ष का मोर्चा खोलना होगा। फ़ासिस्ट सर्वहारा वर्ग के सबसे बड़े दुश्मन हैं और यही वजह है कि वे सर्वहारा क्रान्तियों के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार करने और उसकी उपलब्धियों पर कीचड़ उछालने का काम करते हैं। एक सर्वहारा वर्गीय दृष्टिकोण से नये सिरे से पुनर्जागरण और प्रबोधन की मुहिम को ज़मीन पर उतारना आज के समय में फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष का एक अहम मोर्चा है।

ओबीसी आरक्षण बिल, जाति आधारित जनगणना और आरक्षण पर अस्मितावादी राजनीति के निहितार्थ

– अरविन्द

जातीय जनगणना के मुद्दे पर एक बार फिर से सियासत तेज़ होती दिखायी दे रही है। विभिन्न अस्मितावादी जातिवादी पार्टियाँ अपना जातीय समर्थन और जनाधार क़ायम रखने के लिए रस्साकशी हेतु आ जुटी हैं। राजग की सहयोगी पार्टी जद(यू) के नीतीश कुमार भाजपा की तरफ़ आँखें निकाल रहे हैं तो दूसरी ओर अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी राजद के लालूप्रसाद यादव के लाल तेजस्वी यादव तथा अन्य दलों को साथ लेकर इस मसले पर प्रधानमंत्री मोदी से मुलाक़ात भी कर रहे हैं। जाति आधारित जनगणना की माँग को लेकर उक्त सर्वदलीय प्रतिनिधिमण्डल की प्रधानमंत्री से मुलाक़ात विगत 23 अगस्त को हुई थी। प्रतिनिधिमण्डल और बैठक में शामिल जनक राम नामक भाजपा नेता का कहना था कि मोदी ने एक परिवार के संरक्षक की तरह से सभी की राय सुनी है! हालाँकि गोपीनाथ मुण्डे जैसे भाजपा के विभिन्न नेता विपक्ष में रहते हुए ख़ुद जाति आधारित जनगणना की माँग को ज़ोर-शोर से उठाते रहे हैं लेकिन फ़िलहाल भाजपा इस मुद्दे पर पसोपेश की स्थिति में पड़ी दिखायी दे रही है।

सच्चाई यह है कि जाति आधारित जनगणना के होने या न होने से व्यापक मेहनतकश आबादी के जीवन में कोई भी वास्तविक बदलाव नहीं आने वाला है। आज जब सवाल उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के चलते रोज़गार और शिक्षा के घटते अवसरों पर उठाया जाना चाहिए तब बची-खुची चन्द नौकरियों के लिए जातिवादी-अस्मितावादी राजनीति में लोगों को झोंक देना किसी षड्यंत्र से कम नहीं है। जाति आधारित जनगणना के मुद्दे पर होने वाली नूराँकुश्ती में सार्विक शिक्षा, सबको रोज़गार और सार्विक स्वास्थ्य सेवाएँ हासिल करने के संघर्षों को कहीं पीछे धकेल दिया जायेगा और व्यवस्था की नाकामी से लोगों का ध्यान भटकाकर उन्हें एक-दूसरी जाति का होने के चलते ही एक-दूसरे का दुश्मन बना दिया जायेगा। जो लोग मौजूदा आरक्षण को समाप्त करने की माँग करते हैं, कोई दो राय नहीं कि वे ऐसी माँग अपने दिमाग़ के ब्राह्मणवादी व जातिवादी कीड़े के कारण करते हैं, क्योंकि ये ही लोग कभी शिक्षण संस्थानों में मैनेजमेण्ट कोटा या एनआरआई कोटा को समाप्त करने की माँग नहीं करते। लेकिन साथ ही वे लोग भी एक विभ्रम में जी रहे हैं कि आरक्षण के ज़रिए शिक्षा और रोज़गार के सवाल का हल हो सकता है या नयी-नयी श्रेणियाँ पैदा कर नये-नये आरक्षण बनाने से इस समस्या का समाधान हो सकता है। यह एक ऐसे काल्पनिक केक में हिस्से के लिए लड़ना है जो कि कहीं मौजूद ही नहीं है। शासक वर्ग के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग तरीक़े से आरक्षण की राजनीति का इस्तेमाल करते हैं, ताकि जनता शिक्षा और रोज़गार को अपना मूलभूत अधिकार बनाने की लड़ाई न लड़े और समूची व्यवस्था और सरकार को कठघरे में न खड़ा करे बल्कि आपस में ही सिर-फुटौव्वल करती रहे।

जाति आधारित जनगणना की पूरी माँग के पीछे भी असल निहितार्थ यह है कि कैसे न कैसे जातियों के नये आँकड़ों के आधार पर आरक्षण की बन्दर बाँट को पुनर्परिभाषित किया जाये और अपनी-अपनी जातियों के वोट बैंक को सुदृढ़ किया जाये जिसे भाजपा की हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी और साम्प्रदायिक अस्मितावादी राजनीति ने "छिन्न-भिन्न" कर दिया है। पिछड़े वर्ग की जातियों की अस्मितावादी राजनीति करने वाली चुनावबाज़ पार्टियों की असल मंशा समझने के लिए हमें आरक्षण के इतिहास पर थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। भारत में जनगणना की सीमित स्तर पर शुरुआत तो 1872 में ब्रिटिश वायसराय लार्ड मेयो के कार्यकाल में हो गयी थी, लेकिन व्यवस्थित ढंग से जनगणना की शुरुआत 1881 में ही हो पायी थी। उस समय की जनगणना में जाति एक महत्वपूर्ण तत्त्व था। अंग्रेज़ों का भारत में जनगणना करने का प्रमुख कारण भारत के समाज की आन्तरिक संरचना और नृजातीय समीकरणों को समझना था ताकि औपनिवेशिक लूट और शोषण को ओर भी पुख़्ता किया जा सके। 1881 के बाद से भारत में हर 10 साल के अन्तराल के बाद जनगणना होती रही है किन्तु हर जनगणना में जाति के तत्त्व को शामिल नहीं किया गया। भारत में सम्पूर्ण जाति आधारित अन्तिम जनगणना साल 1931 में हुई थी। इसके बाद 1941 में भी जाति आधारित जनगणना हुई थी किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के हालात के चलते आँकड़ों को एकत्रित एवं सम्पादित नहीं किया जा सका था। 1951 की जनगणना में केवल अनुसूचित जातियों और जनजातियों की ही गिनती की गयी थी। धर्म के आधार पर तो आबादी की गणना की ही जाती रही है।

देश की आज़ादी के बाद 1951 में संविधान लागू होने के बाद से ही अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था शुरू कर दी गयी थी। आगे चलकर अन्य जातियों से जुड़े लोगों की ओर से भी पिछड़े वर्ग में शामिल करके आरक्षण की माँग उठायी जाने लगी थी। पिछड़ेपन के आधार और पिछड़े वर्ग की परिभाषा को लेकर तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू के द्वारा काका कालेलकर आयोग का गठन किया गया था। इस आयोग ने विभिन्न जातियों को पिछड़े जाति वर्ग में शामिल करने के लिए 1931 के ही आँकड़ों का इस्तेमाल किया था। लेकिन काका कालेलकर समिति के विभिन्न सदस्यों के बीच ही पिछड़ेपन के पैमाने को लेकर वैचारिक साम्य स्थापित नहीं हो पाया। कुछ लोग इसका पैमाना आर्थिक मान रहे थे तो कुछ इसका पैमाना जाति आधार पर मान रहे थे। कुल-मिलाकर काका कालेलकर आयोग कोई नीतिगत बदलाव नहीं ला सका। इसके बाद 1978 में मोरारजी देसाई की जनता पार्टी सरकार (जोकि पार्टी नहीं बल्कि असल में भानमती का कुनबा था) के कार्यकाल में बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल (बीपी मण्डल) की अध्यक्षता में पिछड़ा आयोग का गठन किया गया था। आगे चलकर इन्हीं बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता में बने मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार जाति को आधार बनाकर सामाजिक और शैक्षणिक तौर पर विभिन्न धर्मावलम्बी 3,743 जातियों में 1 लाख की आय सीमा वालों के लिए सर्वोच्च न्यायलय ने 1992 में 27 फ़ीसदी आरक्षण लागू कर दिया। सुप्रीम कोर्ट के द्वारा आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत तक ही रखने का निर्देश भी दे दिया गया। 2006 में संप्रग सरकार के कार्यकाल में कांग्रेस के केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री अर्जुन सिंह ने पिछड़े वर्ग के आरक्षण को शिक्षण संस्थानों के दाख़िलों और नौकरियों में भी लागू कर दिया गया। कुल-मिलाकर आरक्षण अब 50 फ़ीसदी तक पहुँच चुका था। उसके बाद सरकारों ने आर्थिक आधार पर और विशेष पिछड़ी जाति का नाम देकर आरक्षण देने की क़वायदें तेज़ कीं। उदाहरण के तौर पर 25 जनवरी 2013 को हरियाणा की भूपेन्द्र हुड्डा की तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने 5 जातियों (जाट, जटसिख, रोड़, बिश्नोई, त्यागी) को विशेष पिछड़ी जाति का दर्जा देकर 10 प्रतिशत आरक्षण देने की घोषणा की तथा आर्थिक तौर पर पिछड़ों को जिनमें ब्राह्मण, राजपूत, खत्री, पंजाबी और महाजन जातियों को रखकर इन्हें भी 11 सितम्बर 2013 को 10 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। हालाँकि आगे चलकर पंजाब और हरियाणा हाई कोर्ट ने इन दोनों ही प्रकार के आरक्षणों को ख़ारिज कर दिया था। अभी फडणवीस की महाराष्ट्र सरकार ने मराठा जाति को 16 फ़ीसदी आरक्षण देने की बात कही है। तमिलनाडु में आरक्षण 69 फ़ीसदी तक पहुँच चुका है जिसका मामला उच्चतम न्यायालय में लम्बित है। जनवरी 2019 में केन्द्र सरकार ने सामान्य वर्ग के आर्थिक रूप से कमज़ोर हिस्से को 10 प्रतिशत आरक्षण दे ही दिया है। कुल-मिलाकर हम यहाँ पर शासक वर्ग की मंशा को आसानी से समझ सकते हैं। देश की आज़ादी के 75 साल बाद तक भी सबके लिए शिक्षा और रोज़गार का प्रबन्ध तो किया नहीं उल्टा जनता को बाँट देने की क़वायदें तेज़ होती जा रही हैं। शासक वर्ग अपनी चाल में पूरी तरह कामयाब है कि लोग सार्विक शिक्षा और सार्विक रोज़गार के मुद्दों को छोड़कर उस चीज़ के लिए लड़ रहे हैं जो कि असल में है ही नहीं!

आज़ादी के बाद से जैसे-जैसे जनता के स्वतंत्र भारत के आदर्श और सपने धूल-धूसरित होने लगे वैसे-वैसे ही शासक वर्ग के द्वारा उसका ध्यान व्यवस्था की नाकामी से हटाकर ग़ैर-ज़रूरी मुद्दों पर केन्द्रित किया जाता रहा है। आरक्षण के नाम पर की जाने वाली बन्दरबाँट भी शासक वर्ग के हाथ में जनता की एकता को तोड़ने और उसे आपस में ही लड़ाने का एक सशक्त हथियार रहा है। निश्चित तौर पर आरक्षण के प्रति शासक वर्ग की मंशा वह नहीं थी जिसे आमतौर पर प्रचारित किया जाता है। आरक्षण भले ही एक अल्पकालिक राहत के तौर पर था किन्तु यह अल्पकालिक राहत भी ढंग से कभी लागू नहीं हो पायी। इसी का परिणाम है कि आज ऊँची सरकारी नौकरियों में, शिक्षकों में, सेना व पुलिस में, नौकरशाही में दलितों की भागीदारी आबादी में उनके हिस्से की तुलना में बेहद कम हैं। बेशक संवैधानिक और जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष के फ़लक पर पहले से मौजूद आरक्षण को पारदर्शिता के साथ लागू करवाने का भी एक एजेण्डा बनता है। तमाम जनवादी ताक़तों को इसके लिए प्रयास भी करना चाहिए। किन्तु यह सोचना भी किसी मृग मरीचिका के पीछे भागने से कम नहीं है कि यदि आरक्षण पूरी तरह से लागू हो गया तो सभी को नौकरी मिल जायेगी। दलितों और तथाकथित पिछड़ों की हर समस्या का इलाज आरक्षण को ही बताना और तमाम संघर्षों को आरक्षण तक ही सीमित रखना शासक वर्ग के झाँसे में आना ही है।

आरक्षण 'अफ़रमेटिव एक्शन' (सत्ता द्वारा की गयी सकारात्मक कार्रवाई) के तौर पर उठाया गया एक क़दम था। सामाजिक रूप से पिछड़ों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करना ही आरक्षण लागू करने का प्रमुख तर्क था। आज़ादी के 75 साल बाद हम आरक्षण की नीति का विश्लेषण करके कुछ सामान्य नतीजों तक पहुँच सकते हैं। आरक्षण के फ़ायदे से रोज़गार हासिल करना तो दूर की बात है दलित जतियों की बहुसंख्यक आबादी इसके लागू होने के सात दशक बाद तक भी उच्च शिक्षा तक भी नहीं पहुँच पायी है। आज सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर दलित आबादी का कितना हिस्सा सामाजिक बराबरी की हैसियत तक पहुँचा है? तथा यही गति रही तो बाक़ी बचे हिस्से के स्तरोन्नयन में कितना और वक़्त लग सकता है? इन्हीं नुक़्तों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा और रोज़गार प्राप्ति के अपने संघर्ष को केवल आरक्षण तक ही महदूद कर देना क़तई पर्याप्त नहीं है बल्कि ऐसा करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। पिछड़ी जातियों में भी आरक्षण का फ़ायदा बेहद सीमित आबादी को ही हुआ है। क्योंकि बड़ी आबादी आरक्षण का फ़ायदा लेने की स्थिति तक ही कभी नहीं पहुँच पायी और यदि कोई पहुँच भी जाये तो फिर अवसर बेहद सीमित होते हैं।

बेशक मनुवादी सवर्ण मानसिकता के आधार पर आरक्षण को देखने और इसकी व्याख्या करने को हम ग़लत मानते हैं। किन्तु क्या अपने संघर्षों को केवल आरक्षण हासिल करने और हासिल आरक्षण की हिफ़ाज़त करने तक ही सीमित रखना पर्याप्त होगा? इसी तर्क के आधार पर हम आज के समय आरक्षण को शासक वर्गों के हाथों में जनता को बाँटने का एक हथियार मानते हैं। बेशक अपने क़ानूनी और संवैधानिक अधिकार के तौर पर आरक्षण को ईमानदारी से लागू करवाने, कोटे के तहत ख़ाली पदों को भरने के लिए आन्दोलन खड़े किये जायें किन्तु आज सबके लिए सामान और निःशुल्क शिक्षा और हर काम करने योग्य व्यक्ति के लिए रोज़गार का नारा ही सर्वोपरि तौर पर तमाम जातियों की मेहनतकश जनता का साझा नारा बन सकता है। इस सच्चाई को समझने के बाद ही हम आपसी फूट और बँटवारे से बच सकते हैं।

आजकल एक नारा ख़ूब उछल रहा है। तमाम अस्मितावादी और पिछड़ी जातियों की पहचान की राजनीति करने वाले रंग-बिरंगे कूपमण्डूक बड़ी ही गर्मजोशी के साथ इस नारे को उठाते हैं। यह नारा है "जिसकी जितनी संख्या भारी उसकी उतनी भागीदारी"! इसे इस रूप में भी कहा जा रहा है कि हरेक जाति को जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से आरक्षण दे दिया जाना चाहिए! थोड़ा-सा भी दिमाग़ पर ज़ोर डाला जाये तो हम समझ सकते हैं इस नारे के तर्क में कोई दम नहीं है। इसका असल मक़सद है व्यापक मेहनतकश जनता को आरक्षण का आकाश कुसुम दिखाकर उसे आरक्षण आन्दोलनों में कोल्हू के बैल की तरह जोत देना और ख़ुद उसकी मेहनत से पैदा होने वाले रस को सरपेट जाना! जातिवादी राजनीति करने वाले तमाम चुनावी मदारी इसी श्रेणी में आते हैं। हमें आरक्षण को ढंग से लागू करवाने, इसके साथ छेड़छाड़ करने की सरकारों की मंशा का विरोध करने के साथ-साथ प्रमुखता के साथ सबके लिए समान और निःशुल्क शिक्षा और हर काम कर सकने वाले युवा के लिए रोज़गार के समान अवसर के नारे को उठाकर सरकारों को घेरना चाहिए। जतियों के जो ठेकेदार हमें जाति आधारित गोलबन्दी में ही क़ैद करके रखना चाहते हैं वे हमारे सबसे बड़े दुश्मन हैं। हमें आपने संघर्षों

(पेज 12 पर जारी)

तालिबान के सत्ता में आने के बाद अफ़ग़ानिस्तान के बदतर हालात

– आनन्द

बीते 15 अगस्त को तालिबान द्वारा काबुल पर क़ब्ज़ा करने के बाद से अफ़ग़ानिस्तान में अफ़रा-तफ़री का आलम है। अमेरिका द्वारा अफ़ग़ानिस्तान से अपनी सेना वापस बुलाने के फ़ैसले के बाद यह तो तय था कि वहाँ की सत्ता पर देर-सबेर तालिबान का क़ब्ज़ा हो जायेगा, लेकिन यह इतना जल्दी हो जायेगा, इसका अनुमान किसी को भी नहीं था। यही वजह है कि तालिबान के क़ब्ज़े की ख़बर सुनते ही हज़ारों की संख्या में काबुलवासी बदहवासी में देश छोड़ने के लिए काबुल के एयरपोर्ट पर जमा होने लगे। काबुल एयरपोर्ट पर क़रीब 15 दिनों तक अफ़रा-तफ़री का माहौल रहा। इस दौरान वहाँ इस्लामिक स्टेट-ख़ुरासन के आतंकियों द्वारा आत्मघाती हमला भी किया गया जिसमें कम से कम 170 अफ़ग़ानी नागरिक मारे गये और अमेरिकी सेना ने जाते-जाते ड्रोन के ज़रिए एक रिहायशी इलाक़े पर हमला किया जिसमें बच्चों सहित दर्जन से भी ज़्यादा लोग मारे गये। 31 अगस्त तक अमेरिका और नाटो की सेना के पूरी तरह वापस लौटने के बाद से काबुल एयरपोर्ट पर तो शान्ति का आलम है, लेकिन अफ़ग़ानिस्तान अभी भी एक मानवीय, आर्थिक और सामाजिक संकट से जूझ रहा है जो लम्बे समय तक जारी रहने वाला है।

तालिबान ने अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्ज़ा तो कर लिया लेकिन उसके पास इस चहुँओर संकट से निकलने की न तो कोई योजना है और न ही उसके पास ऐसी क्षमता है। तालिबान के भीतर मौजूद कई धड़ों के बीच चल रही झड़पों की वजह से भी भविष्य की कोई सुस्पष्ट दिशा नहीं नज़र आ रही है। अगर ये झगड़े निपट भी जाते, तो किसी धार्मिक कट्टरपन्थी सत्ता से शान्ति और स्थायित्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। उसके शासन का लगातार भयंकर दमन व उत्पीड़न से भरा होना और जनता के उसके प्रति प्रतिरोध से भरा होना लाज़िमी होगा। बहरहाल, इतना तो तय है कि अफ़ग़ानिस्तान में निकट भविष्य में अस्थिरता और अशान्ति कम होने की बजाय बढ़ने ही वाली है। इसका सबसे ज़्यादा असर वहाँ की आम मेहनतकश आबादी, औरतों और अल्पसंख्यकों की ज़िन्दगी पर होगा।

भीषण मानवीय संकट की दहलीज़ पर खड़ा अफ़ग़ानिस्तान

अफ़ग़ानिस्तान पर तालिबान के क़ब्ज़े से पहले ही वहाँ भीषण खाद्य संकट और बड़े पैमाने पर विस्थापन की परिस्थिति थी। तालिबान के क़ब्ज़े ने इस परिस्थिति को और विकट कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र की संस्था विश्व खाद्य कार्यक्रम के अनुसार अफ़ग़ानिस्तान में राजनीतिक अस्थिरता, सूखा और कोरोना महामारी के सामूहिक प्रभाव से क़रीब डेढ़ करोड़ लोग भुखमरी की कगार पर पहुँच चुके हैं। वहाँ के कई शहरों में बेहद ज़रूरी भोजन सामग्री की भी भारी क़िल्लत हो गयी है।

अस्पतालों में मरीज़ों के लिए बेड, डॉक्टर, नर्स और चिकित्सा सामग्रियों की भारी क़िल्लत हो गयी है। शरणार्थियों के लिए संयुक्त राष्ट्र के उच्चायुक्त के अनुसार इस साल की शुरुआत से लेकर अब तक अफ़ग़ानिस्तान में क़रीब 6 लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं जिनमें 80 फ़ीसदी महिलाएँ और बच्चे हैं। अफ़ग़ानिस्तान के पड़ोसी मुल्कों पाकिस्तान, ईरान, ताजिकिस्तान और उज़बेकिस्तान की सीमाओं के पास भारी संख्या में अफ़ग़ान शरणार्थी इकट्ठा हो रहे हैं। देश के भीतर विस्थापित होने वाले लोगों की संख्या भी बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। काबुल से लाखों की संख्या में लोग देश छोड़कर जा चुके हैं, लेकिन अभी भी हज़ारों लोग खुले आसमान के नीचे सोने को मजबूर हैं। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार अगले चार महीनों में क़रीब 5 लाख अफ़ग़ानी देश छोड़कर बाहर जा सकते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान में घोर आर्थिक संकट

तालिबान के सत्ता में पहुँचने से पहले ही अफ़ग़ानिस्तान की अर्थव्यवस्था बदहाली की स्थिति में थी। वहाँ सरकारी बजट का 75 फ़ीसदी हिस्सा विदेशी सहायता से आता था। तालिबान के सत्ता में आने के बाद यह विदेशी सहायता भी अनिश्चितकाल तक स्थगित हो गयी है। अमेरिका ने अफ़ग़ानिस्तान के केन्द्रीय बैंक के क़रीब साढ़े नौ अरब डॉलर के मूल्य की परिसम्पत्तियों को ज़ब्त कर लिया है। इसकी वजह से अफ़ग़ानिस्तान के सामने अपने भारी आयात बिल के भुगतान का संकट खड़ा हो गया है। अमेरिका के दबाव में आकर विश्व-मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने भी अफ़ग़ानिस्तान को दी जाने वाली आपातकालीन सहायता पर रोक लगा दी है। यूरोपीय यूनियन ने भी क़रीब डेढ़ अरब डॉलर की सहायता पर फ़िलहाल रोक लगा दी है। इन वजहों से अफ़ग़ानिस्तान में एक भीषण आर्थिक संकट खड़ा हो गया है।

आर्थिक संकट का सबसे ज़्यादा नुक़सान अफ़ग़ानिस्तान की आम मेहनतकश आबादी को हो रहा है। ग़ौरतलब है कि अफ़ग़ानिस्तान दुनिया के सबसे ग़रीब देशों में से एक है। वहाँ की क़रीब तीन-चौथाई आबादी ग़रीबी-रेखा के नीचे रहती है। बेरोज़गारों की विशाल फ़ौज के लिए तालिबान के शासन में करने के लिए कोई काम नहीं है। दाल, चावल, गेहूँ, तेल, रसोई गैस जैसी बेहद ज़रूरी चीज़ों के दाम आसमान छू रहे हैं। लोगों के पास पैसे न होने की वजह से उन्हें अपने घर-गृहस्थी की चीज़ें बेचनी पड़ रही हैं। बैंक से पैसे निकालना बहुत मुश्किल हो गया है क्योंकि बैंकों के पास कैश नहीं बचा है। विदेशों में बसे अफ़ग़ानियों द्वारा भेजे जाने वाले रेमिटांस (आय प्रेषण) का भी देश में आना पूरी तरह से बन्द हो गया है क्योंकि वेस्टर्न या वेस्टर्न यूनियन मनी ट्रांसफ़र जैसी संस्थाओं ने अफ़ग़ानिस्तान में अपना काम ठप कर दिया है।

तालिबान की हुकूमत में औरतों की ज़िन्दगी

अफ़ग़ानिस्तान में तालिबान के सत्ता में आने के बाद वहाँ की औरतों की ज़िन्दगी एक झटके में बीस साल पीछे चली गयी। तालिबान ने फ़रमान जारी कर दिया है कि अगली सूचना तक औरतें घरों से बाहर न निकलें क्योंकि तालिबान के लड़ाकों को औरतों के साथ कैसे पेश आयें इसका प्रशिक्षण नहीं मिला है! यह बात दीगर है कि अफ़ग़ानी औरतें तालिबानी फ़रमानों को धता बताते हुए अपने हक़ों के लिए सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन कर रही हैं। इन प्रदर्शनों को तालिबान के लड़ाके बन्दूक़ों और कोड़ों के दम पर बर्बरतापूर्वक कुचल रहे हैं। तालिबान ने अभी औरतों को काम पर आने की इजाज़त भी नहीं दी है। स्कूलों में भी अभी लड़कियाँ नहीं जा रही हैं। विश्वविद्यालयों में उन्हें इस शर्त पर जाने की इजाज़त मिली है कि कक्षाओं में लड़कों और लड़कियों के बीच पर्दा रहेगा। संगीत और नृत्य पर पूरी तरह से पाबन्दी लगा दी गयी है। महिला कल्याण मंत्रालय को ख़त्म करके उसकी जगह गुण और दोष मंत्रालय बनाया गया है। ग़ौरतलब है कि यह वही मंत्रालय था जो 1996 से 2001 के बीच पिछली तालिबानी हुकूमत के दौरान औरतों को अकेले बिना किसी मर्द के साथ घर से बाहर निकलने या बिना बुर्क़ा या हिजाब पहने बाहर निकलने पर सरेआम कोड़ों से मारने की सज़ा देता था। यही वह मंत्रालय था जो बेवफ़ाई के मामलों में औरतों को पत्थर से मार-मारकर मौत की सज़ा देता था।

तालिबान का कार्यवाहक मंत्रिमण्डल और भविष्य के संकेत

तालिबान के सत्ता में आने के बाद कई विश्लेषक यह दावा कर रहे थे कि यह तालिबान पहले जैसा नहीं रहा है और वह अब काफ़ी नरम पड़ चुका है। परन्तु सत्ता में आने के बाद जिस तरह से तालिबान ने औरतों को घरों में क़ैद रहने का फ़रमान जारी किया उससे यह दिखता है कि तालिबान में कुछ दिखावटी बदलावों के अलावा कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया है। तालिबान ने अपनी सरकार को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलाने के लिए मानवाधिकारों, औरतों और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा और समावेशी सरकार बनाने का वायदा किया था। लेकिन गत 7 सितम्बर को तालिबान ने एक कार्यवाहक मंत्रिमण्डल की घोषणा की उसमें एक भी ग़ैर-तालिबानी सदस्य नहीं शामिल है और न ही कोई माहिला शामिल है। इस कार्यवाहक मंत्रिमण्डल में सिराजुद्दीन हक्कानी जैसे ख़ूँख़्वार आतंकी को गृह मंत्रालय सौंपा गया है जिससे समझा जा सकता है कि तालिबान कितना नरम पड़ा है। ऐसी भी ख़बरें आयीं कि मंत्रिमण्डल की घोषणा से पहले तालिबान के भीतर धुर कट्टरपन्थी हक्कानी नेटवर्क और सापेक्षत: नरमपन्थी मुल्ला बरादर के गुटों के बीच झड़पें भी हुईं। अभी भी तालिबान के भीतर अफ़ग़ानिस्तान की भावी दिशा को लेकर पूरी तरह से एक राय नहीं बन पायी है जिसकी वजह से अभी भी वहाँ कार्यवाहक मंत्रिमण्डल की घोषणा के बावजूद सरकार जैसी कोई चीज़ नज़र नहीं आ रही है।

तालिबान न सिर्फ़ गुटबन्दी का शिकार है बल्कि अफ़ग़ानिस्तान के जटिल समाज पर शासन करने की उसकी क्षमता पर भी एक बड़ा सवालिया निशान है। प्रशासनिक व तकनीकी हुनर रखने वाले लोग बड़ी संख्या में पलायन कर चुके हैं। यह भी ग़ौर करने की बात है कि पिछले दो दशकों के दौरान अफ़ग़ानी समाज में ज़बर्दस्त बदलाव हुए हैं जिनके मद्देनज़र तालिबान के लिए सत्ता चलाना आसान नहीं है। 2001 में अफ़ग़ानिस्तान की आबादी दो करोड़ से थोड़ी ज़्यादा थी जो आज बढ़कर 4 करोड़ के क़रीब जा पहुँची है। अफ़ग़ानिस्तान की 60 फ़ीसदी आबादी ने तालिबान का पिछला शासन नहीं देखा है जिस समय टेलीविज़न पर भी पाबन्दी थी। इण्टरनेट और सोशल मीडिया के दौर में पली-बढ़ी मौजूदा पीढ़ी को पिछले शासन की तरह क़ाबू करना तालिबान के लिए बेहद मुश्किल होगा। जैसाकि तालिबान के सत्ता में आने के पहले डेढ़ महीने के भीतर ही नज़र आ रहा है, इस बार उनके ख़िलाफ़ प्रतिरोध भी ज़्यादा हो रहा है क्योंकि वहाँ की नयी पीढ़ी को सीमित ही सही लेकिन जनवादी अधिकारों के साथ जीने की आदत है और वे तालिबान की इस्लामी अमीरात जैसी निरंकुश व्यवस्था को चुपचाप बर्दाश्त नहीं करने वाले हैं।

इतना स्पष्ट है कि व्यापक जनसमुदायों के अलग-अलग हिस्से तालिबान के विरुद्ध अपना प्रतिरोध जारी रखेंगे और तालिबान की धार्मिक कट्टरपन्थी सत्ता उसे बर्बरता से कुचलने के क़दम उठायेगी। यह अफ़ग़ानी समाज में अन्तरविरोधों को जन्म देगा। लेकिन किसी क्रान्तिकारी शक्ति के अभाव में इन अन्तरविरोधों का कोई प्रगतिशील समाधान होने की सम्भावना फ़िलहाल नज़र नहीं आ रही है। लेकिन इतिहास हमेशा ही चौंकाता है और किसी विशिष्ट स्थिति में ऐसी कोई शक्ति खड़ी होने लगे, इसकी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

ओबीसी आरक्षण बिल, जाति आधारित जनगणना और आरक्षण पर अस्मितावादी राजनीति...

(पेज 11 से आगे)

को व्यापक बनाना चाहिए। तमाम जातियों के मेहनतकशों को साझे मुद्दे तलाशकर एक साथ आगे बढ़ना चाहिए।

हमें यह बात समझनी होगी कि आबादी के अनुपात में आरक्षण के टुकड़े मिलने से भी कुछ नहीं होने वाला! नौकरियाँ लगातार घट रही हैं, बेरोज़गारी अपने चरम पर है! सितम्बर 2021 के शुरू में आयी सीएमआईई की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार भारत की बेरोज़गारी दर 8.3 प्रतिशत हो चुकी है। एनएसएसओ की रिपोर्ट के अनुसार तो हम बेरोज़गारी दर के पिछले सारे रिकॉर्ड काफ़ी पहले ही तो तोड़ चुके हैं। चपरासी की 62 सीटों के लिए 93,000 लोग आवेदन कर रहे हैं जिनमें 5,400 पीएचडी होते हैं! 10,000 आरपीएफ़ जवानों की भर्ती में 95,00,000 लोग लाइन में होते हैं! ऐसे दौर में सिर्फ़ आरक्षण के भरोसे बैठने और भेड़ों की तरह जातीय अस्मितावादी गधों के पीछे घूमने से व्यापक मेहनतकश आबादी को कुछ नहीं मिलने वाला है! चुनावी धन्धेबाज़ों के झाँसे में आकर सिर्फ़ जातीय अस्मितावाद और आरक्षण तक ही अपने संघर्ष को सीमित रखना आत्मघाती होगा। वहीं सामान्य वर्ग को भी इस भुलावे में नहीं रहना चाहिए कि उनकी नौकरियों के मार्ग में आरक्षित श्रेणियों के लोग ज़िम्मेदार हैं बल्कि उन्हें भी सरकारों की रोज़गार विरोधी नीतियों में अपनी समस्या को देखना चाहिए। यही नहीं एक न्यायपसन्द इन्सान के नाते हमें मेहनतकश जनता के हर समुदाय के अधिकारों पर हो रहे हमलों का कड़ा विरोध करना चाहिए। इसीलिए जाति आधारित अस्मितावादी राजनीति करने वालों की असलियत को हमें समझना होगा। हमें अपने संघर्ष के फ़लक को विस्तार देना चाहिए। हर जाति, हर मज़हब की ग़रीब आबादी की एकजुट ताक़त ही सरकारों के घुटने टिकवा सकती है और सबको शिक्षा और सबको रोज़गार के नारे में ही वह ताक़त है जो सबको एक एजेण्डे के तहत लामबन्द कर सके।

पूँजीवाद का हित साधने के लिए देश में बढ़ती फ़ासिस्टों की गुण्डागर्दी

– लता

देश की अर्थव्यवस्था में छायी मन्दी, आसमान छूती महँगाई और बेरोज़गारी के गहराते काले बादल सड़कों पर जनाक्रोश के रूप में फूट पड़ने के संकेत दे रहे हैं। जगह-जगह पर शिक्षा, रोज़गार और वेतन बढ़ाने के लिए मज़दूर-नौजवान-छात्र प्रदर्शन कर रहे हैं। हालाँकि गोदी मीडिया इन प्रदर्शनों को दिखायेगी नहीं लेकिन मोदी सरकार सतह के नीचे बढ़ते इन असन्तोषों को भली-भाँति समझ रही है। इसलिए हर प्रकार के प्रतिरोध का बर्बर दमन कर रही है। साथ ही पेगासस जैसे ख़ुफ़िया तंत्रों का सहारा लेकर भविष्य में प्रतिरोधों के दमन की पूरी तैयारी भी कर रही है। आम मेहनतकश जनता की एकजुटता तोड़ने, मज़दूरों की वर्ग चेतना कुन्द करने और नौजवानों को दिग्भ्रमित करने के लिए संघ परिवार और मोदी सरकार साम्प्रदायिक तनाव को तीव्र गति से बढ़ा रहे हैं, धर्म और जाति के आधार पर ध्रुवीकरण को तेज़ कर रहे हैं तमाम क़िस्म की रूढ़िवादी परम्पराओं को हवा दे रहे हैं। यही वजह है कि भाजपा के नेताओं, कार्यकर्ताओं और संघ परिवार के लम्पटों को सड़क पर पूरी छूट मिली हुई है। नफ़रत की आँधी फैलाकर जुनूनी भीड़ को उकसाया जा रहा है और निर्दोषों की हत्या करवायी जा रही है। ऐसी वारदातें जो पहले कुछ-एक घटनाओं के रूप में हुआ करती थीं, 2014 में मोदी के सत्ता में आने के बाद एक अभियान की शक्ल इख़्तियार कर चुकी हैं। हालाँकि मोदी 'सबका साथ सबका विकास' का जाप करता रहता है, कभी-कभार दबी ज़ुबान से ऐसी घटनाओं की निन्दा करता है लेकिन इनके ख़िलाफ़ कोई ठोस कार्रवाई नहीं होती। आज जगह-जगह ऐसी उन्मादी भीड़ अल्पसंख्यकों, दलितों, महिलाओं और राजनीतिक विरोधियों को अपना शिकार बना रही है। अकेले और कमज़ोर व्यक्तियों पर दरिन्दों की तरह यह भीड़ टूट पड़ती है और झुण्ड में अपना पौरुष दिखाती हुई देश और धर्म की रक्षा के नाम पर सड़कों पर मासूमों को पीटती है, अपमानित करती है और मौत के घाट उतारती है।

हाल ही में 2 सितम्बर को कानपुर में बजरंग दल के दरिन्दों और कायरों की एक ऐसी ही भीड़ शहर में एक निरीह मुसलमान रिक्शेवाले को मारती-पीटती, उसे अपमानित करती गलियों में घुमाती नज़र आयी। उस रिक्शेवाले की छोटी बेटी अपने पिता से चिपकी भीड़ से पिता को न मारने की विनती कर रही थी। लेकिन वहशियों की यह भीड़ उस साधारण भारतीय नागरिक से 'जय श्री राम'और 'भारत माता की जय' के नारे लगवाती हुई उसे लगातार पीट रही थी। दो ग़रीब पड़ोसियों के बीच हुई मामूली लड़ाई को स्थानीय बजरंग दल के कार्यकर्ताओं ने साम्प्रदायिक रंग दे दिया। वहीं पुलिस प्रशासन एक बार फिर वहशियों के समर्थन में खड़ा दिखायी दिया। बजरंग दल के आतंकियों ने रिक्शेवाले को मारते, अपमानित करते शहर में घुमाया लेकिन पुलिस को इसकी कोई ख़बर नहीं हुई। इन्हीं गुण्डों ने रिक्शेवाले को मारते-पीटते पुलिस को सौंप दिया और सौंपते समय भी पुलिस की मौजूदगी में रिक्शेवाले को मारते रहे। पुलिस को भी इस वहशी भीड़ के सामने अकेला पिटता यह इन्सान ही आरोपी दिखा। दरिन्दों की भीड़ को छोड़ उस अकेले इन्सान को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया। इतना ही नहीं उसे गिरफ़्तार करने के बाद हिरासत में भी बुरी तरह पीटा। फ़ासीवादियों के प्रचारतंत्र को देखते हुए गली-मोहल्लों और पड़ोसियों के आपसी झगड़ों को साम्प्रदायिक रंग देना आश्चर्यजनक नहीं लगता है। गली-गली में बैठे संघी ऐसे मौक़ों की तलाश में रहते हैं। इसके अलावा गोदी मीडिया के भाड़े के पत्रकार लोगों के दिलो-दिमाग़ में ज़हर भरते रहते हैं। गली-मुहल्लों में आरएसएस की शाखाएँ, शिशु मन्दिर, अध्ययन संस्थान लोगों के ज़ेहन में भयंकर अन्धी प्रतिक्रिया का ज़हर घोलते हैं जिसके परिणाम के तौर पर सड़कों पर साम्प्रदायिक हिंसा और लिंचिंग की घटनाएँ बढ़ रही हैं।

इस घटना के कुछ दिनों बाद जन्तर-मन्तर पर 8 अगस्त को भाजपा के पूर्व प्रवक्ता अश्विनी उपाध्याय ने अंग्रेज़ों के ज़माने के काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ प्रदर्शन आयोजित किया जिसमें मुसलमान-विरोधी नारे लगाये गये या कहें सीधे-सीधे मुसलमानों के नरसंहार के नारे लगाये गये। कहा गया कि मुसलमान ज़्यादा बच्चे पैदा कर रहे हैं और उनकी आबादी 35 करोड़ की है। 35 करोड़ आबादी यानी 35 करोड़ वोट और जिस रफ़्तार से यह बच्चे पैदा कर रहे हैं आने वाले समय में भारत मुसलमान देश हो जायेगा। हम देख सकते हैं कि किस तरह खुलेआम देश की राजधानी में एक सम्प्रदाय के ख़िलाफ़ ज़हर उगला जा रहा है और झूठा प्रचार कर उन्माद फैलाया जा रहा है और किसी पर कोई कार्रवाई नहीं होती। कुछ नाम मात्र एफ़आईआर या एक दो दिन की गिरफ़्तारी हुई और सब सामान्य। इसे गुण्डों, आतंकियों और दरिन्दों को खुली शह देना ही कहा जायेगा।

इस तरह ही कुछ महीने पहले 16 मई को 27 वर्ष के युवक आसिफ़ ख़ान की तक़रीबन 20 लोगों के समूह ने पीट-पीटकर हत्या कर दी थी। लिंचिंग की घटना के बाद पूरे इलाक़े में बड़ी-बड़ी सभाएँ कर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ाया गया। मुस्लिम समुदाय के ख़िलाफ़ सैन्य तैयारी जैसा माहौल बनाया गया। इन सभाओं में भी बार-बार उन्हीं मिथकों को दुहराया गया जिसे संघ परिवार देश में सामान्य बोध की तरह स्थापित करने पर उतारू है। इन मिथकों को बार-बार दुहराने की वजह से निम्न-मध्यवर्गीय इलाक़ों से लेकर खाते-पीते मध्यवर्ग के बीच भी इन घटनाओं को उचित ठहराने की एक प्रवृत्ति पैदा हुई है।

अगर देखें तो भारत की कुल आबादी में मुसलमानों का हिस्सा 14.2 प्रतिशत का है। जनसंख्या विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि 1971 से लेकर 2011 तक मुसलमान आबादी लगातार कम हुई है या स्थिर रही है। आज़ादी से लेकर अब तक देश की आबादी में विभिन्न धर्मों की आबादी का जो संघटन है वह लगभग समान रहा है। वहीं प्यू शोध संस्थान का हालिया अध्ययन यह बताता है कि हिन्दुस्तान में लगभग सभी धर्मों के लोगों की प्रजनन दर में गिरावट आयी है और यह गिरावट सबसे अधिक मुसलमानों में देखी गयी है। यदि प्रजनन दर में भारी गिरावट आयी है तो निश्चित ही आबादी की बढ़ती दर में भी गिरावट आयी है। इस प्रकार बढ़ती मुसलमान आबादी का मिथक, कोरा झूठ है जिसका प्रचार हिन्दू आबादी में असुरक्षा की भावना पैदा करने के लिए किया जाता है। इतना ही नहीं इस असुरक्षा की भावना को बढ़ाने के लिए संघी प्रचार मुसलमानों की मनमानी संख्या बताता है जैसे 34 करोड़, 40 करोड़ आदि जिसका सच्चाई से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता। बेरोज़गारी, छँटनी और तालाबन्दी की मार झेल रही आबादी को संघ का यह दावा सीधे-सीधे अपील करता है कि 17 करोड़ मुसलमान यानी 17 करोड़ नौकरियाँ!

हम सभी को यह समझना बेहद ज़रूरी है कि कि हिन्दुस्तान में सदियों से हिन्दुओं और मुसलमानों की आबादी साथ रहती आयी है, उनकी मिली-जुली संस्कृति और भाषा का इस देश के समाज और सभ्यता के विकास में शानदार योगदान रहा है। ऐसे में, आज मुसलमानों, और गौण रूप में ईसाइयों, दलितों व अन्य अल्पसंख्यक समुदायों को दुश्मन के रूप में पेश करके फ़ासीवादी संघ परिवार क्या करना चाहता है? सच्चाई यह है कि अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत के इतिहास में दंगों का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अंग्रेज़ों ने बेहद कुशलता से हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल कर जनता की एकता को तोड़ने का प्रयास किया ताकि उन पर शासन और उनका शोषण-उत्पीड़न जारी रखा जा सके।

अंग्रेज़ों की चाकरी करने वाले, उन्हें माफ़ीनामा लिखने वाले और उनके प्रति वफ़ादारी की क़समें खाने वाले संघ परिवार के नेताओं ने अंग्रेज़ों से बहुत कुछ उधार लिया है। उसमें से एक है अपनी राजनीति के लिए साम्प्रदायिक कट्टरता का इस्तेमाल। संघी फ़ासीवादी आज़ादी से पहले के दौर में भी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि मुसलमानों पर आग उगला करते थे और आज भी वे अपनी सत्तापरस्ती को क़ायम रखते हुए पूँजीपतियों के हितों को साधने के लिए भी हिन्दू आबादी को मुसलमानों के ख़िलाफ़ भड़काते हैं। मुसलमानों के अलावा इनकी नफ़रत के दायरे में तमाम धार्मिक अल्पसंख्यक, दलित, स्त्री आदि भी आते हैं। जर्मनी में जैसे यहूदियों को देश की सभी समस्याओं का कारण बताया गया था और प्रचारतंत्र के माध्यम से यह स्थापित किया गया था कि इनका अन्तिम समाधान (फ़ाइनल सोल्युशन) सभी समस्याओं का समाधान होगा, वैसे ही आरएसएस मुसलमानों, इसाइयों, दलितों व सभी अल्पसंख्यकों को देश की समस्याओं का कारण बताता है और जर्मनी व इटली की तर्ज़ पर ही इनका फ़ाइनल सोल्युशन या अन्तिम समाधान सुझाता है। मतलब पूँजीवाद जो कि सभी समस्याओं की जड़ है उसे कभी भी कठघरे में नहीं खड़ा करना और एक नक़ली दुश्मन पैदा कर बहुसंख्यक जनसमुदायों के समक्ष उसे खड़ा कर देना।

समाज की समस्याओं के असली दोषी पूँजीवाद को दृष्टि पटल से ओझल रखने के लिए संघी फ़ासीवाद अल्पसंख्यक, स्त्री, मज़दूर, दलित, दमित राष्ट्र और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता-विरोधी विचारधाराओं को समाज में स्थापित करता है। ऐसा करने के लिए संघ परिवार के कुछ निश्चित हथकण्डे होते हैं जैसे गो हत्या, लव जिहाद, छेड़खानी, धर्म-परिवर्तन आदि जिसके नाम पर ये दंगे भड़काते हैं, राह चलते गुण्डागर्दी करते हैं, सड़क पर हत्या तक कर देते हैं और यह सब 'राष्ट्र' और धर्म के नाम पर। जनसंख्या पर हम पहले ही बात कर चुके हैं। इन्दौर में चूड़ी बेचने वाले एक फेरीवाले पर फ़ासीवादी मानसिकता वाले गुण्डे यही आरोप लगा रहे थे। इस उन्मादी भीड़ ने बेचारे उस फेरीवाले को पहले बुरी तरह मारा-पीटा फिर उसके 10,000 रुपये, मोबाइल फ़ोन और 25,000 की चूड़ियाँ छीन लीं। ग़रीब मेहनतकश आबादी समझ सकती है कि कोई फेरीवाला, रेहड़ी-खोमचेवाला धूप-गर्मी-बरसात और जाड़े में गली-गली अपनी रोज़ी-रोटी के लिए और परिवार का पेट पालने के लिए भटकता है। उसके लिए ऐसी घटना का क्या अर्थ होगा, यह समझा जा सकता है। किसी ग़रीब का पैसा, मोबाइल और पूँजी छीनकर कौन-से धर्म की रक्षा हो गयी। और यह बेचारा आदमी किस धर्म का अपमान कर रहा था। क्या मेहनत-मज़दूरी करना धर्म-विरोधी काम है? मेहनत-मज़दूरी कर रहे व्यक्ति के पेट पर लात मारना क्या उचित है? इन सबके पीछे संघ का मक़सद लोगों को असल मुद्दों से भटकाना होता है।

एक बात पर आप और ग़ौर करेंगे; इस तरह की ज़्यादातर घटनाएँ आम-मेहनतकश ग़रीब आबादी के ख़िलाफ़ होती हैं और ऐसी घटनाओं को अंजाम अधिकतर टुटपुँजिया वर्गों की भीड़ देती है, लेकिन कई बार इसमें आम मेहनतकश वर्गों के लोग भी शामिल होते हैं। बड़ी पूँजी की मार से उजड़ने वाली निम्न-मध्यम वर्गीय आबादी जो टटपुँजिया वर्गों का सबसे असुरक्षित हिस्सा यानी छोटे रोज़गार धन्धों में लगा वर्ग होता है उसे हम इन घटनाओं में सबसे आगे खड़ा देखते हैं। यह उजड़ता टुटपुँजिया वर्ग फ़ासीवादी राजनीति का सबसे व्यापक सामाजिक आधार होता है। हालाँकि फ़ासीवाद के सामाजिक आधार की बात करें तो इसमें सामाजिक रूप से ऊपर की ओर गतिमान और पूँजीवादी लूट का लाभ प्राप्तकर्ता टुटपुँजिया वर्ग भी आता है जो इस उभार का ज़बर्दस्त सामाजिक आधार बनता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि फ़ासीवाद केवल उजड़ते टटपुँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन नहीं होता है, बल्कि आर्थिक तौर पर उभरते टटपुँजिया वर्ग का भी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है। लेकिन उजड़ते टुटपुँजिया वर्ग और उभरते टुटपुँजिया वर्ग की भागीदारी में एक विशेष अन्तर होता है। उभरता टुटपुँजिया वर्ग किसी झूठी वर्ग भावना से नहीं बल्कि अपने वर्ग हितों से इस प्रतिक्रियावादी आन्दोलन का हिस्सा बनता है और उसको नेतृत्व भी देता है। जबकि उजड़ता टुटपुँजिया वर्ग अपने आप को इस खाते-पीते टटपुँजिया वर्ग का हिस्सा समझते हुए या उस जैसा बन जाने का सपना लिये उसके साथ खड़ा होता है।

त्रिशंकु के समान अपनी वर्ग स्थिति की वजह से उजड़ता हुआ यह वर्ग अपनी तबाही या असुरक्षा के असली कारणों की पहचान नहीं कर पाता, अपने वर्ग हितों को नहीं समझ पाता। इस स्थिति का फ़ायदा उठाकर फ़ासीवादी राजनीति इनके बीच अपने पैर पसारती है। अपने तमाम सफ़ेद झूठों, किंवदन्तियों और अफ़वाहों के माध्यम से टुटपुँजिया वर्गों को एक रूमानी सपना और एक काल्पनिक शत्रु देती है। इस सपने में कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। किसी 'रामराज्य' या 'सोने की चिड़िया' वाले भारत की स्थापना की बात की जाती है। इस अतीत को दुबारा कोई "मज़बूत नेता" लेकर आने वाला होता है। उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग को मसीहा मिल जाता है जो उसके सभी कष्टों का समाधान करेगा। स्वयं अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन और पितृसत्तात्मक संरचना में गहरे धँसे होने की वजह से वह यक़ीन करता है ऐसे किसी मज़बूत नेता की 'राष्ट्र' को आवश्यकता है जो मज़दूरों, अल्पसंख्यकों, औरतों, दलितों आदि को अनुशासित कर 'राष्ट्र' को विकसित करेगा। इस विश्वास के साथ यह वर्ग फ़ासीवादी उन्माद का औज़ार बनता है।

मूलत: मज़दूर वर्ग और उसके आन्दोलन और साथ ही धार्मिक, नस्लीय, जातीय या किसी भी क़िस्म की अल्पसंख्यक आबादी इस काल्पनिक शत्रु के दायरे में आते हैं। इन्हें 'बाहरी', 'अन्य', 'भिन्न' आदि रूपों में प्रस्तुत किया जाता है जो भयंकर घृणा और क्रोध के पात्र बनते हैं। अपने प्रचारतंत्र के माध्यम से फ़ासीवाद इस घृणा और क्रोध को इतना फैलाता है कि जानवर के नाम पर इन्सानों की सरेआम हत्या मान्य हो जाती है; गौ रक्षा के नाम पर 12 साल के मासूम इनायतुल्ला को पेड़ से लटका दिया जाना स्वीकार्य हो

(पेज 14 पर जारी)

अम्बेडकरनगर की जर्जर चिकित्सा व्यवस्था हर साल बनती है सैकड़ों मौतों की वजह

– बिगुल संवाददाता

आज़ादी के सात दशक से ज़्यादा का वक़्त बीत चुका है। इन वर्षों में तमाम चुनावबाज़ पार्टियाँ सत्ता में आ चुकी हैं और सभी ने अपनी और अपने आक़ाओं – बड़े-बड़े अमीरज़ादों की तिजोरियाँ भरने का काम किया है। हर बार नये-नये नारों और वायदों के बीच हमारी असली समस्याओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, रोज़गार, मज़दूरी आदि को ग़ायब कर दिया जाता है और जाति-धर्म का खेल खेला जाता है। केन्द्र और राज्य की सत्ता में बैठी फ़ासीवादी भाजपा कभी राष्ट्रवाद का जुमला उछालकर तो कभी रामराज्य के नाम पर वोट बैंक की राजनीति करती है। लेकिन देश बनता है देश में रहने वाले लोगों से। और इसमें भी आम मेहनतकश अवाम 80 फ़ीसदी से भी ज़्यादा है, जो कि देश की समूची सम्पदा का उत्पादन करती है, कल-कारख़ानों से लेकर खेतों-खलिहानों और खानों-खदानों तक में अपना हाड़ गलाती है। आज हमारे देश की मेहनत-मज़दूरी करने वाली आबादी को भोजन, शिक्षा स्वास्थ्य, आवास जैसी बुनियादी चीज़ें मुहैया नहीं हैं। देशभर में स्वास्थ्य सुविधाओं की स्थिति की सच्चाई कोरोना महामारी के दौर में सामने आ गयी। देशभर में आबादी की तुलना में सरकारी स्वास्थ्य सुविधाएँ ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर हैं।

अम्बेडकरनगर की बदहाल सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था

उत्तर प्रदेश के अम्बेडकरनगर ज़िले में स्वास्थ्य सुविधाएँ केवल काग़ज़ों पर हैं और हाकिमों के दावों तक ही सिमटी हुई हैं। ज़िले की लगभग 30 लाख की आबादी पर केवल 1 ज़िला अस्पताल व 1 महिला अस्पताल है। औसतन सवा तीन लाख लोगों पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र है और एक लाख की आबादी पर केवल एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र है। सरकारी मानकों के हिसाब से भी चला जाये तो हर एक लाख की जनसंख्या पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र और हर 30 हज़ार की आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र होना चाहिए। सरकारी चिकित्सा तंत्र की बदहाली का आलम यह है कि ज़िले के 28 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में से 15 ऐसे हैं जहाँ एक भी चिकित्सक नहीं है! ये सभी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र फ़ार्मासिस्टों के भरोसे संचालित हो रहे हैं। एक तरफ़ तो ज़िले में अस्पतालों की संख्या ही बहुत कम है। ऊपर से जो हैं भी, उनमें से अधिकांश में 50 प्रतिशत से ज़्यादा डॉक्टरों के पद ख़ाली पड़े हैं। वीटी सीएचसी में डॉक्टरों के 6 स्वीकृत पदों के मुक़ाबले केवल 3 डॉक्टर हैं। वहीं कटहेरी में 8 डॉक्टरों की जगह केवल एक डॉक्टर की तैनाती है। भियाव और जहाँगीरगंज में आधे से ज़्यादा डॉक्टरों के पद ख़ाली पड़े हैं। जलालपुर का महिला अस्पताल समाजवादी पार्टी के कार्यकाल में निर्मित किया गया और वोट बटोरने के लिए बिना किसी मेडिकल स्टाफ़ के ही अस्पताल का संचालन शुरू कर दिया गया।

स्वास्थ्य सुविधाओं में आमूलचूल परिवर्तन करने और सभी को बेहतर स्वास्थ्य मुहैया कराने का जुमला उछालकर 2017 में योगी सरकार सत्तासीन हुई लेकिन इन पाँच सालों में एक भी मेडिकल स्टाफ़ की भरती नहीं की गयी। तहसील क्षेत्र आलापुर के 472 गाँवों के लिए रामनगर और जहाँगीरगंज में केवल दो सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र और कमालपुर पिकार, कम्हरियाघाट, नारियाँव, लखनी पट्टी, मकरही एवं माडरमऊ में कुल 6 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र हैं। मतलब 236 गाँवों पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र और 79 गाँवों पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र है। पीएचसी को छोड़िए, ज़िले में बने सीएचसी भी केवल रेफ़र करने का काग़ज़ तैयार करने के काम आता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानक के मुताबिक़ हर 300 की आबादी पर एक नर्स होनी चाहिए लेकिन देश में लगभग 700 पर एक नर्स है और ज़िले में लगभग 50,000 की आबादी पर एक नर्स है। ज़्यादातर लोग इलाज के लिए आस-पास के झोलाछाप डॉक्टरों पर निर्भर हैं। इसकी वजह से लोग आये दिन छोटी-छोटी बीमारियों से मरते रहते हैं। इन सरकारी अस्पतालों में न तो जाँच के उपकरण हैं और न ही लोगों के लिए ठीक से दवाओं की व्यवस्था है। ईसीजी, अल्ट्रासाउण्ड, सीटी स्कैन की बात तो छोड़ दीजिए, ख़ून की जाँच और एक्स-रे की सुविधा भी इन अस्पतालों में नहीं है। लोगों को छोटी-छोटी बीमारियों के इलाज और जाँच के लिए अक़बरपुर और आज़मगढ़ में खुले प्राइवेट अस्पतालों और पैथोलॉजी में जाना पड़ता है। पूरे इलाक़े में बच्चों के लिए कोई अस्पताल नहीं होने की वजह से 5 वर्ष से कम उम्र के हर 1000 बच्चों में से 81 बच्चों की मौत हो जाती है, जबकि पूरे देश में यह आँकड़ा प्रति 1000 में लगभग 4 का है। 1991 में निजीकरण की नीतियों के लागू होने के इन तीन दशकों के दौरान गाँवों से लेकर क़स्बों और शहरों तक प्राइवेट अस्पतालों का एक विराट तंत्र खड़ा हुआ है जिसका एकमात्र मक़सद लोगों की बीमारियों से फ़ायदा उठाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा पीटना है। इस दौर में अस्पतालों के साथ ही प्राइवेट क्लीनिक, पैथोलॉजी, फ़ार्मेसी आदि का भी एक ताना-बाना खड़ा हुआ है जो ग़रीबों को चूस-चूसकर फल-फूल रहा है। बहुत-से लोगों को अपने परिजनों को बचाने के लिए गाँव के धनी किसानों, सूदख़ोरों से क़र्ज़ लेना पड़ता है और वे लोग आजीवन इनके क़र्ज़ के तले पिसते रहते हैं। ज़मीन, जानवर, गहने या ज़रूरी सामानों को बेचकर भी क़र्ज़ से मुक्ति नहीं मिलती है।

पूँजीवादी सरकारों का आम मेहनतकश जनता के लिए चिकित्सा सुविधाओं के प्रति उपेक्षा का रवैया

कोरोना महामारी के दौरान लाखों लोगों की जान सिर्फ़ इसलिए चली गयी क्योंकि उन्हें समय पर आक्सीजन, दवाएँ और इलाज नहीं मिल पाये। आज़ादी के बाद से ही विभिन्न चुनावी मदारियों ने वर्तमान समय तक आते-आते सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र को इस क़दर मुनाफ़े की भेंट चढ़ाया और बर्बाद किया है कि कोरोना महामारी से पहले भी लोगों को सरकारी ढाँचे के अन्दर ढंग की चिकित्सा सुविधा मिल पाना मुश्किल था, लेकिन कोरोना महामारी के दौरान लचर स्वास्थ्य व्यवस्था के कारण जिस क़दर लाखों लोगों की जानें गयीं, वह भयावह था।

आज़ादी के ठीक पहले बनी भोरे कमेटी ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की एक विस्तृत योजना तैयार की थी, जिसमें पूरी आबादी को नि:शुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने का प्रावधान था। परन्तु आज़ादी के बाद इस कमेटी की रिपोर्ट को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया। इतना ही नहीं संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार का दर्जा देने का प्रस्ताव रखा था, परन्तु संविधान सभा का बहुमत इसके ख़िलाफ़ था! इसीलिए संविधान में स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार के अध्याय में नहीं बल्कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों वाले अध्याय में रखा गया, जो कि जनता के साथ एक भद्दा मज़ाक़ है क्योंकि इन नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए सरकार की कोई जवाबदेही जनता के प्रति नहीं होती। इन दो घटनाओं से समझा जा सकता है कि आज़ादी के बाद से ही जन स्वास्थ्य के प्रति देशी हुक्मरानों का रवैया कितना उपेक्षापूर्ण रहा है। 2014 के बाद सत्ता में आयी फ़ासीवादी मोदी सरकार चिकित्सा बजट में लगातार कटौती करती जा रही है। पिछले 10 वर्षों में स्वास्थ्य सेवाओं पर सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का मात्र 1.1 से 1.15 प्रतिशत तक ख़र्च किया गया है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के मानक के मुताबिक़ प्रति 1000 व्यक्तियों पर 1 डॉक्टर होना चाहिए। लेकिन हमारे देश में 11,082 व्यक्तियों पर 1 डॉक्टर है। स्वास्थ्य सेवा सुलभ होने के मामले में भारत दुनिया के 195 देशों में 154वें पायदान पर है। यहाँ तक कि यह बांग्लादेश, नेपाल और घाना तक से पीछे है!

ऊपर दिये गये आँकड़ों को पढ़कर समझा जा सकता है कि देश और अम्बेडकरनगर ज़िले की बदहाल चिकित्सा व्यवस्था की ज़िम्मेदार आज़ादी के बाद विभिन्न चुनावबाज़ पार्टियों की स्वास्थ्य नीति है जिसे पूँजीपति वर्ग के मामलों का प्रबन्धन करने वाली कमेटी यानी सरकार पूँजीपति वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर बनाती है। सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो आम मेहनतकश जनता के लिए स्वास्थ्य सुविधाओं को सहज व सुलभ रूप से उपलब्ध बनाने का काम आज़ादी के बाद किसी भी पूँजीवादी पार्टी की सरकार ने नहीं किया है। और सर्वाधिक जनविरोधी और प्रतिक्रियावादी चरित्र रखने वाली मोदी सरकार द्वारा इसकी उपेक्षा और भी ज़्यादा आपराधिक है जैसा कि कोरोना महामारी के दौरान दिख भी गया है। आज़ादी के इन 74 सालों में हम सभी चुनावबाज़ पार्टियों को आज़माकर देख चुके हैं लेकिन, स्वास्थ्य व्यवस्था की बदहाली दूर नहीं हुई। अब बेहतरी की एकमात्र उम्मीद इस सवाल पर व्यापक जनान्दोलन से ही की जा सकती है और इस मसले का फ़ैसलाकुन तरीक़े से हल मज़दूर राज में समाजवादी निर्माण के साथ ही हो सकता है।

पूँजीवाद का हित साधने के लिए देश में बढ़ती फ़ासिस्टों की गुण्डागर्दी

(पेज 13 से आगे)

जाता है। यह घृणा किस क़दर विकराल रूप लेती जा रही है इसका उदाहरण हम असम की घटना में देख सकते है। मज़दूर मेहनतकश मुस्लिम आबादी की 800 परिवार वाली एक बस्ती को पुलिस ने उजाड़ दिया। वहाँ रहने वालों ने जब प्रतिरोध किया तो उनपर गोलियों और लाठियों से हमला किया गया। इस हमले में मोइनुल मारा गया। उसकी मृत्यु के बाद वहाँ उपस्थित एक पत्रकार उसके शव के साथ बदसलूकी करता है, बेरहमी से उसपर जूतों से कूदता है। मुस्लिम समुदाय के प्रति इतनी घृणा दर्शाती है कि किस प्रकार असम की फ़िरकापरस्त अस्मितावादी ताक़तें हिन्दुत्वादी फ़ासिस्टों के साथ मिलकर उनसे इन्सान होने तक का हक़ भी छीनने पर आमादा हैं। यहाँ रह रही आबादी का कहना है कि वे पूर्वी बंगाल से नहीं आये हैं बल्कि यहाँ के ही निवासी हैं और साथ ही यह भी जोड़ देते हैं कि इससे कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता, उनके लिए हम बस मियाँ हैं। असम की फ़ासीवादी सरकार भी अपने केन्द्र सरकार के नक़्शे क़दम पर चलते हुए 'स्थानीय' और 'बाहरी' का मुद्दा खड़ा कर लोगों को बाँटने का काम पूरे ज़ोरो-शोर से कर रही है जिसमें उनका साथ ये अस्मितावादी ताक़तें दे रही हैं।

उस आम मज़दूर मेहनतकश आबादी के मन में यह सवाल उठ सकता है जो अल्पसंख्यक, दलित या दमित राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं से नहीं आती है कि इस राजनीति से उन्हें क्या लेना? लेकिन मज़दूर वर्ग को यह समझना होगा कि फ़ासीवाद काल्पनिक शत्रु के आवरण में टुटपुँजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करता है जिसका लक्ष्य संकटग्रस्त बड़ी पूँजी की सेवा करना होता है। और इसके निशाने पर मज़दूर वर्ग और अल्पसंख्यक जनसमुदायों को रख दिया जाता है। यही फ़ासीवादी राजनीति की मूल पहचान होती है। हमारे बीच का भी एक हिस्सा जिसे लम्पट सर्वहारा कहा जाता है वह इस राजनीति के प्रभाव में आकर फ़ासीवाद का सामाजिक आधार बनाता है। यह फ़ासीवादी राजनीति हमारी एकता को तोड़ती है और हमारी वर्ग चेतना को कुन्द करती है। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र व नस्ली भिन्नता पर बाँटने की राजनीति मज़दूर आबादी की एकता को छिन्न-भिन्न करती है। हम जितने ही टूटे, बिखरे और अलग-अलग रहेंगे पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ हमारी लड़ाई उतनी ही कमज़ोर होती जायेगी। बिखरा हुआ मज़दूर वर्ग अपने ऐतिहासिक मिशन यानी मज़दूर राज्य की स्थापना के अपने लक्ष्य से उतना ही दूर होता चला जायेगा। यदि मज़दूर वर्ग ख़ुद जाति, धर्म, भाषा, नस्ल और क्षेत्र के नाम पर बँटा रहेगा तो आम मेहनतकश आबादी को राजनीतिक नेतृत्व कैसे दे पायेगा? ऐसी सोच हमारे लिए बेहद घातक साबित होगी। इसलिए हमें सचेतन तौर पर फ़ासीवादी राजनीति से लड़ना होगा उसके झूठे प्रचार, जुमलों और आडम्बरों को समझना होगा। धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा और नस्ल के नाम पर फैलाये जा रहे पूर्वाग्रहों व मिथकों से लड़ना होगा। अगर हम ऐसा नहीं कर पायेंगे तो यह फ़ासीवादी ताक़तें मुट्ठीभर पूँजीपतियों के हितों की सेवा में पूरे देश को होम कर देंगी और अल्पसंख्यकों, दलितों, औरतों, दमित राष्ट्र और राष्ट्रीयताओं के साथ-साथ मज़दूर और मेहनतकश आबादी की बर्बादी भी निश्चित है। हमारी ही गलियों में हमारे ही अपनों का लहू बहेगा, जिनके साथ मिल बैठकर पर्व-त्योहार मनाये थे, चाय की चुस्कियाँ ली थीं, उन्हीं का ख़ून सड़कों पर बहेगा और हमारी चिताओं पर ही पूँजीपति वर्ग और फ़ासीवाद अपनी रोटियाँ सेंकेगा। क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी के बीच फ़ासीवाद-विरोधी सघन राजनीतिक प्रचार-प्रसार करना होगा। आज की ज़रूरत एक देशव्यापी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण है। एक ऐसी पार्टी की अगुवाई में ही मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता प्रभावी तरीक़े से फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ सकती है।

कहानी (भाग - एक)

स्याह और सुर्ख़

– अन्वेषक

हल्का पीला पड़ चुका चेहरा, जो लम्बी थकान के बाद लटका हुआ है। उसके हाथ एक दिशा में लगातार चल रहे हैं। पीलापन उसके चेहरे पर जड़ जमा चुका है, पर साफ़ नज़र नहीं आ रहा क्योंकि कारख़ाने में बन रहे वाइपर के पाइपों और उसमें लगा काले रंग का केमिकल उसके चेहरे को ढँक चुका है। इसी कारण थकान भी धूमिल लग रही है। दिन पर दिन उसका पतला-दुबला शरीर ढल रहा है। नीचे आसमानी रंग की हाफ़शर्ट, जो काले-नीले मिश्रण का रूप धारण कर चुकी है, कभी उसे फ़िट आती थी। शर्ट में जैसे-जैसे पैबन्द बढ़ रहे थे, वैसे ही उसका बदन भी पैबन्दों का एक जाल बन गया था, जो किसी तरह चल रहा था। कई दिनों से लगातार चौदह घण्टे काम करने के कारण उसे कुछ दिन पहले बुख़ार भी था। चालीस इंच की पाइप में 4.4 मि.मी. की स्लिप चढ़ाते हुए उसे घण्टों बीत गये। एक हाथ से स्लिप और दूसरे हाथ से पाइप उठाकर स्लिप को पाइप के ऊपर चढ़ाना होता था। यह उत्पाद बनने का दूसरा चरण था। इसे चढ़ाने के लिए एक ही मुद्रा में बैठकर हाथ का इस्तेमाल करना था, ताकि गति में कोई कमी ना आये। इस प्रक्रिया को घण्टों दोहराते देखकर हाथ कभी ना रुकने वाली पवनचक्की जैसे लगते हैं। अभिषेक भी पिछले छः घण्टों से हाथों की पवनचक्की से पाइप पर स्लिप चढ़ाते जा रहा था।

अचानक उसके हाथों की गति कम होने लगी। उसका सिर नीचे की ओर झुकने लगा। गति कम होते देख ठेकेदार, जो हट्टा-कट्टा लम्बा-चौड़ा आदमी था, तम्बाकू को मुँह से थूककर पीछे से बोला – "तेज कर बईरे! आज माल तैयार करके भेजना है, चाहे रात के 2:00 बज जायें।" गिरते हुए सर को सँभालते हुए अभिषेक ने फिर से हाथों की गति को बढ़ाने की कोशिश की, पर वह अपनी पुरानी गति तक नहीं पहुँच पा रहा था।

"ठेकेदार साहब! मोको चक्कर आ रहो है। हमको थोड़ा आराम करीबे दो।" अभिषेक ने अपनी विवशता ज़ाहिर करते हुए कहा।

"चल साले! काम कर अभी मजे लेने का टाइम नहीं है। तेरी इस रोज की नौटंकी को मैं अच्छे से जानता हूँ। कुछ दिन पहले भी तू ऐसे ही बोला था, कि तुझे बुखार है, रोज का तेरा यह ड्रामा बर्दाश्त करने नहीं बैठे। काम करना है तो कर वर्ना निकल ले बहुत है काम करने वाले।" ठेकेदार ने अपनी रूखी आवाज़ को और रूखा बनाते हुए कहा।

अब अभिषेक के पास बोलने के लिए कुछ नहीं था। फिर से धीरे-धीरे हाथ चलाकर स्लिप को पाइप पर डालना शुरू किया। कारख़ाने और काले केमिकल ने उसके शरीर और उसके पीले चेहरे के साथ-साथ उसके भावों को भी काला कर दिया था, जिस पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि वहाँ मौजूद सबके चेहरे ऐसे ही थे। वर्षों से इन कारख़ानों में जीवन की बुनियादी चीज़ों को इकट्ठा करने की जद्दोजहद और उसकी यंत्रणा से सब गुज़र रहे थे।

तभी काम करते-करते वह पीछे की ओर गिरने लगा। उसका सिर सीधे ज़मीन से लगने ही वाला था कि उसके पीछे काम कर रहे मज़दूर ने उसे पकड़ लिया।

पतला-दुबला थोड़ा लम्बा-सा एक लड़का, जिसने भड़कीली लाल शर्ट और कसी हुई जींस की पैण्ट पहनी थी, वहाँ पहुँचा। उसके भूरे रंग के चमकदार पॉलिश किये हुए जूते आगे से नुकीले थे, जिसे देखकर लगता कि वह सबको अपने जूते की नोक पर ही रखता था। यह कारख़ाने का फ़ोरमैन था। पीछे स्लिप चढ़े पाइप में ऊपर की ओर मुट्ठा ठोंकती हुई औरतें उसको गिरता हुआ देख रही थीं, पर अनवरत जारी रहने वाले उनके हाथ पाइप पर मुट्ठा ठोंकते जा रहे थे। बस वे आँखों से ही अभिषेक के प्रति सहानुभूति प्रकट कर पा रही थीं।

"क्या हुआ बे इसे?" खीझते हुए फ़ोरमैन ने कहा।

"पता नहीं! इसे शायद चक्कर आ रहे हैं।" अभिषेक को सँभालते हुए मज़दूर ने कहा।

गाँव का और हमउम्र होने के नाते कई मज़दूर उसे 'तू' कहकर ही बात करते थे पर इसके बावजूद कम्पनी का माल पूरा करवाने के लिए कठोरता बरतना ही उसका काम था।

"उठ बे! चल जा मुँह धो कर आ।"

लड़खड़ाता हुआ अभिषेक खड़ा हुआ और मुँह-हाथ धोने जाने की कोशिश कर रहा था। कुछ क़दम चलकर वह पाइप में पंच करने वाली मशीन पर जाकर बैठ गया, जो इस समय बन्द थी और स्टेयरिंग पर अपना सर झुका लिया।

आकाश जिसने अभिषेक को गिरने से बचाया था, काम रोक कर खड़ा हुआ और ठेकेदार के पास जाकर बोला – "कम्पनी में दवाई का डिब्बा होगा ना उसमें से कोई दवाई दे दो इसे, ठेकेदार!" कारख़ाने में सब उसे ठेकेदार के नाम से ही बुलाते थे।

"कुछ नहीं है। इस बईरे (बहरे) ने कुबेर ज्यादा खा ली होगी, उसका ही नशा है झेल नहीं पाया होगा।" ठेकेदार बोला।

"नहीं ठेकेदार साहब! यह कुबेर का नशा नाहीं है, सच में मोको चक्कर आ रहो हैं। कुबेर तो सुबोह ही खाई थी, अब शाम होन को आ रही है। कुबेर हम खाऊते अगर तो बात कैसे करते? पूछो! सुमित से हम ओ से बात भी कर रहो थो।" स्टीयरिंग से सर उठाकर ख़ुद को बीमार साबित करने की चेष्टा करता हुआ अभिषेक बोला।

"नहीं, मैंने देखा था तू कुबेर थूक रहा था बाल्टी में।" ठेकेदार इस बात को साबित करने पर तुला था कि उसे चक्कर नहीं आ रहे।

"चल बईरे (अभिषेक) काम पे लगजा, आज भाईसाहब भी आने वाले हैं। जल्दी-जल्दी काम कर आज चार हजार पीस पूरा करके भेजना है।"

अपनी कोशिशों को असफल होता देख आकाश भी वापिस अपनी जगह पर चला गया। "इसका बीपी लो हो सकता है कुछ नींबू पानी पिला दो इसको," सुमित जो उन मज़दूरों में थोड़ा पढ़ा-लिखा था, वह बोला।

"चल बे! बईरा यहाँ आ जा थोड़ी देर आराम कर, फिर तुझे नींबू पानी पिलाता हूँ।" सुमित की बात से चिढ़कर फ़ोरमैन ने मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा।

"चलो भाई! सब लोग तेजी से हाथ चलाओ। सबको ओवरटाइम करना है, भाईसाहब आने वाले हैं अभी।"

बईरा एक कोने में जाकर लेट गया, जहाँ कैमरे की नज़र से बच सके। उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके अगल-बग़ल में 20 फ़ुट ऊपर तक दानव रूपी बक्सों की क़तार थी, जिनमें सारे माल पैक होकर रखे थे। उनके बीच में पड़ा हुआ बईरा, एक छोटे-से चींटे के समान प्रतीत हो रहा था। उसने आँखें बन्द कर लीं सब कुछ ग़ायब हो गया। बचा सिर्फ़ अन्तहीन अन्धकार। रक्त का प्रवाह तेज़ी से होने लगा, एक पल को उसे ऐसा लगा कि वह फिर से 15 वर्ष का हो गया है, जब वह दिल्ली काम करने आया था। पिछले दस वर्षों से बवाना के कारख़ानों में काम कर रहा है। बईरा सोचने लगा कि जब नया-नया आया था किस फुर्ती से वह सारे काम कर लेता था। तब उसके चेहरे पर लालिमा थी पर अब वह बिल्कुल खोखला हो चुका है। सारी लालिमा और फुर्ती जाती रही। काले कारख़ानों ने इन वर्षों में उसकी सारी ऊर्जा को सोख लिया ताकि कारख़ानों का जीवन बढ़ता रहे। अब वह ख़ुद को असहाय बूढ़े जैसा महसूस कर रहा है, भले ही उसकी उम्र 25 साल हो। इस समय वह अब तक की पूरी यात्रा को समेट रहा था, अपनी सारी ऊर्जा देने के बाद भी उसे मिला क्या?... कि बस आज वह ज़िन्दा है। कुछ महीनों पहले काम मन्दा होने के कारण उसका काम चला गया। इसके बाद उसे मकान भी छोड़ना पड़ा क्योंकि किराया देने के लिए पैसे नहीं थे। कुछ महीनों से घर भी पैसे नहीं भेजे हैं और इसी चिन्ता ने उसे बीमार कर दिया। इसके बावजूद उसने हार ना मानी, काम मिलते ही अधिक से अधिक काम कर हालात बेहतर करने की उसने ठान ली। यहाँ काम मिलने के बाद वह 16 घण्टे काम करने लगा। फ़ैक्टरी में ही रहने लगा, ताकि कमरे का किराया बच सके।

आज वह यहाँ पड़ा हुआ है, फ़ैक्टरी के एक कोने में आँखें बन्द करके। बीमार, हताश, एक अन्धकारमय भविष्य ख़ुद में समेटे हुए।

2

एक लम्बा-चौड़ा आदमी, जिसका पेट हल्का-सा बाहर की तरफ़ निकला हुआ है। हल्के क़रीने से छाँटी गयी चौड़ी मूँछें और ठुड्डी के नीचे बोझ-सा लटकता हुआ माँस, इसके ऊपर पहना हुआ भूरे रंग का चश्मा, जो उसकी आँखों की वीभत्सता को छुपा रहा था। काली टी-शर्ट और हल्के नीले रंग की जींस की पैण्ट पहने कमरे में दाख़िल हुआ। यह भाईसाहब थे।

इनके कमरे में आते ही जितने हाथ पैकिंग, पंचिंग व मुट्ठा ठोकने में लगे थे, सब की गति और तेज़ हो गयी। सबकी आँखें सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने हाथों पर थीं ताकि गति में थोड़ी-सी भी कमी ना आये। ठेकेदार भाईसाहब के पीछे चल रहा था और ठेकेदार के पीछे फ़ोरमैन। यही कड़ी है जो पूरे कारख़ाने को नियंत्रित करती है। भाईसाहब के आने से पहले ही पूरी साफ़-सफ़ाई की जा चुकी थी। साफ़-सफ़ाई का मतलब कटे-फटे स्लिप को हटाकर व्यवस्थित करना, पाइप के टूटे हुए मुट्ठों को एक जगह करना। असल में इन ख़राब मालों को भी बेचा जाता है, ताकि इससे भी मुनाफ़ा कमाया जा सके इसीलिए इसे सँभालकर रखना होता है। तभी अचानक एक स्लिप भाईसाहब के पैरों के नीचे आ गयी। उसे उठाकर ठेकेदार पर झुँझलाते हुए बोले – "तुझे पता नहीं है क्या रामकिशन! यह तुझसे भी ज्यादा कीमती है। ऐसे क्यों फेंक रखा है इसे?" ठेकेदार से कुछ बोलते न बना, बस वह सर झुकाकर खड़ा रहा।

भाईसाहब फ़ैक्टरी के एक छोर से दूसरे छोर पर गये, कारख़ाने का निरीक्षण किया। अब वक़्त था कि हर बार की तरह इस बार भी मज़दूरों को प्रेरित करने वाली बातें बोलें ताकि सब मन लगाकर काम करें। वह बीच में खड़े हुए और बोलना शुरू किया –

"मेरी फैक्टरी के नौजवानों!" भाईसाहब ने उपदेशात्मक स्वर में खोखले भावों के साथ बोलना जारी रखा। "यह फैक्टरी हमारी है और हमारा सब भारत माता का है। हमारी फैक्टरी में प्रोडक्शन अच्छे से होगा तो देश में भी तरक्की होगी। यह जो टाइम चल रहा है, इसमें और ज्यादा मेहनत और लगन से काम करो, वह भी कम से कम 12 घण्टे ताकि फैक्टरी और देश दोनों को फायदा पहुँचे। ज्यादा तनख्वाह कुछ नहीं होता, मुझे खुद देख लो पहले लाखों कमाता था, अब थोड़ा कम हो गया, पर देखो मैं कितनी मेहनत कर रहा हूँ। याद रखो! इसी फैक्टरी से तुम लोगों को नौकरी मिली है, जिससे अपने बच्चों का पेट पाल पा रहे हो।"

हीट मशीन के पास में खड़ा एक बूढ़ा आदमी और उसका 16 वर्ष का लड़का, इस उबकाई लाने वाली बात को अपनी उबासियाँ छुपाते हुए सुन रहे थे।

इतनी मेहनत के बाद भाईसाहब थक गये और तुरन्त अपनी केबिन में आराम करने चले गये। जाते हुए उसने बईरा को पड़ा देखा तो इतना आलस फ़ैक्टरी में बढ़ाने के लिए ठेकेदार को फटकारा।

रात के 9:30 बज गये। कल के लिए फिर से पाँच हज़ार पाइप ठेकेदार ने लगवा दिये ताकि यह पहिया इसी तरह घूमता रहे। सुमित और आकाश जाते हुए ज़मीन पर पड़े हुए बईरा को किसी तरह उसके कमरे तक ले गये। यह कमरा मेनगेट के पास स्थित बाथरूम के बग़ल में था और बाथरूम जितना ही बड़ा था। बस फ़र्क़ इतना था कि कमरे में टायलेट सीट नहीं लगी थी। बईरे को लिटाकर सुमित और आकाश अपने घर लौट गये।

3

अगले दिन फिर वही सब जारी रहने के लिए सुबह हुई। मेनगेट खुला था और रातभर खुला ही था, पर मज़दूरों को क्या... उन्हें तो प्रतिदिन घटित होने वाली त्रासदी से गुज़रना था। हाथ फिर से चल पड़े – पाइप पर स्लिप चढ़ाने के लिए, मुट्ठा ठोंकने के लिए, पंच करने के लिए। सुमित और आकाश भी काम पर पहुँचे, वहाँ काम करते हुए बईरा को ना देखकर तुरन्त उसके कमरे में पहुँचे।

सुमित ने अभिषेक को आवाज़ दी, वह नहीं उठा। कई बार आवाज़ देने के बाद भी वह नहीं उठा तो उसे हिलाकर उठाने की कोशिश की। जैसे ही सुमित ने बईरा को उठाने के लिए उसका छाती पर रखा हाथ उठाया, तो हाथ एक तरफ़ झूल गया। उसका शरीर ठण्डा पड़ चुका था। एक पाइप-सा सीधा लम्बा शरीर पड़ा हुआ था। उसके चेहरे का पीलापन अब और अधिक गाढ़ा हो गया था। पाइप की कालिख भी अब उस बेजान शरीर के पीलेपन को नहीं छुपा पा रही थी।

पूरी फ़ैक्टरी में शोर मच गया। सारे हाथ अचानक एक साथ रुक गये।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

कोरोना काल में भी बदस्तूर जारी है औरतों के ख़िलाफ़ दरिन्दगी

क्यों थम नहीं रहे हैं ये जघन्य अपराध? इनकी जड़ क्या है? समाधान क्या है?

– भार्गवी

कोरोना काल में लॉकडाउन की वजह से चोरी, लूटपाट जैसे कई क़िस्म के अपराधों में तो कुछ कमी आयी, लेकिन औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले विभिन्न क़िस्म के अपराधों में कमी आना तो दूर, उल्टे वे बढ़े ही हैं। इस साल जुलाई के महीने में राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा जारी की गयी एक रिपोर्ट के मुताबिक़ कोरोना महामारी के दौरान औरतों द्वारा आयोग में की गयी शिकायतों में पहले की तुलना में 25 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है। पिछले साल के अधिकांश हिस्से में देशभर में पूर्ण या आंशिक लॉकडाउन था। उसके बावजूद 2020 में प्रति-दिन औसतन 77 बलात्कार के मामले दर्ज किये गये। हाल के महीनों में भी दिल्ली, मुम्बई, पुणे, हैदराबाद और गुण्टूर सहित देश के विभिन्न हिस्सों से औरतों और बच्चियों के साथ बर्बर बलात्कार और हत्याओं की ख़बरें आयीं जो भारतीय समाज की बढ़ती हुई सड़ाँध की ही निशानी है। ये बढ़ती दरिन्दगी यह दिखाती है कि घोर स्त्री-विरोधी आपराधिक सोच इस समाज के रेशे-रेशे में घुस चुकी है और केवल नैतिकता का पाठ पढ़ाकर या किसी सुधारवादी तरीक़े से इसपर क़ाबू नहीं पाया जा सकता है।

देशभर में औरतों के ख़िलाफ़ बढ़ते अपराध तमाम नेताओं-मंत्रियों द्वारा औरतों के लिए सुरक्षित माहौल बनाने के वायदों की धज्जियाँ उड़ाते दिख रहे हैं। इन अपराधों पर क़ाबू पाने में अपनी नाकामी छिपाने और लोगों के ग़ुस्से पर ठण्डा पानी छिड़कने के लिए अब रहनुमाओं ने एक नया तरीक़ा खोजा है। जैसे ही बलात्कार के किसी मामले में जनता का आक्रोश बढ़ने लगता है तो तमाम नेता और मंत्री यह बयान देने लगते हैं कि बलात्कार के आरोपी को पुलिस एनकाउण्टर में मार दिया जाना चाहिए। दो साल पहले हैदराबाद में दिशा नाम की एक पशु-चिकित्सक के बलात्कार और हत्या के मामले में भी कई नेता और मंत्री ऐसी ही माँग करते हुए पाये गये जिसके बाद आरोपियों को फ़र्ज़ी एनकाउण्टर में मार दिया गया। उसके बाद देशभर में तेलंगाना सरकार और पुलिस की ख़ूब वाहवाही हुई और लोगों का ग़ुस्सा ठण्डा हो गया।

लेकिन क्या उस एनकाउण्टर के बाद बलात्कार और महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराधों पर लगाम लगी? जवाब है, बिल्कुल नहीं! उस घटना के बाद से अकेले तेलंगाना में ही 800 से ज़्यादा बलात्कार के मामले दर्ज किये गये हैं जबकि इस दौरान कई महीनों तक लॉकडाउन लगा था। अभी हाल ही में हैदराबाद के सैदाबाद मोहल्ले में एक छह साल की बच्ची के साथ हुए बर्बर बलात्कार और हत्या के मामले में भी जब लोगों का आक्रोश बढ़ने लगा तो राज्य के कई मंत्री, नेता और सेलिब्रिटी आरोपी को एनकाउण्टर में मारने की माँग करने लगे। कुछ ही दिनों बाद यह ख़बर आयी कि पुलिस जब आरोपी को पकड़ने के लिए उसका पीछा कर रही थी तब उसने चलती हुई ट्रेन के सामने कूदकर अपनी जान दे दी। जिन हालात में यह घटना घटी और जिस तरह से पुलिस एनकाउण्टर की माँग ज़ोर-शोर से की जा रही थी, उसको देखते हुए इस सम्भावना से क़तई इन्कार नहीं किया जा सकता है कि आरोपी ने आत्महत्या नहीं की बल्कि उसे एनकाउण्टर में मारा गया हो। ग़ौरतलब है कि बलात्कार के आरोपियों को फ़र्ज़ी एनकाउण्टर में मारने की माँगें तब नहीं उठती हैं जब आरोपी किसी धनी और दबंग परिवार से आता है या जब उसका सम्बन्ध किसी राजनीतिक पार्टी से होता है। ऐसे मामलों में तो तमाम नेता-मंत्री और पुलिस-प्रशासन आरोपी को बचाने के लिए और उसे निर्दोष साबित करने के लिए दिन-रात एक कर देते हैं, जैसाकि हाथरस, उन्नाव और कठुआ जैसे मामलों में देखने में आया।

लगातार बढ़ क्यों रहे हैं औरतों के ख़िलाफ़ बर्बर अपराध

भारतीय समाज में औरतों को मर्दों का ग़ुलाम समझने की मानसिकता हज़ारों सालों से चली आ रही है। इस समाज की नैसर्गिक गति से यहाँ आधुनिकता आ पाती इससे पहले ही यह समाज अंग्रेज़ों की ग़ुलामी का शिकार हो गया। अंग्रेज़ों ने औरतों की ग़ुलामी क़ायम रखने के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार राजे-रजवाड़ों और सामन्तों के साथ गठबन्धन बनाया जिसका एक नतीजा यह भी हुआ कि औरतों की ग़ुलामी बरक़रार रही। 1947 में अंग्रेज़ों के जाने के बाद यहाँ की सत्ता पर देशी पूँजीपति वर्ग क़ाबिज़ हो गया और उसने ग़ैर-क्रान्तिकारी रास्ते से ऊपर से नीतियों के ज़रिए भूमि सुधार किये जिसमें सामन्तों को पूरा मौक़ा दिया गया कि वे ख़ुद को मुनाफ़े पर जीने वाले पूँजीपति किसान और भूस्वामी के रूप में तब्दील कर लें। इस प्रकिया में पुराने सड़े-गले स्त्री-विरोधी और जातिवादी संस्कारों, मूल्यों और मान्यताओं के साथ समझौताहीन संघर्ष न होने से ये संस्कार, मूल्य और मान्यताएँ भारतीय समाज में बने रहे।

आज़ादी के बाद हुए पूँजीवादी विकास की वजह से औरतों को घर-गृहस्थी की घुटनभरी दुनिया से बाहर निकलकर काम करने के लिए बाहर जाने का मौक़ा तो मिला, लेकिन सड़कों से लेकर कारख़ानों तक क़दम-क़दम पर पुरुष-प्रधान पितृसत्तात्मक समाज के सड़े-गले संस्कारों-मूल्यों-मान्यताओं से लैस हैवानों से उनका पिण्ड नहीं छूट पाया। इसके ऊपर से पूँजीवाद की मुनाफ़ाख़ोर संस्कृति ने भी औरत के जिस्म को उपभोग करने वाले माल के रूप में समझने की मानसिकता को बढ़ावा दिया। ख़ास तौर पर पिछले तीन दशकों के दौरान नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद खाओ-पियो-ऐश करो की जो घृणित उपभोक्तावादी संस्कृति फली-फूली है उसने औरतों की ज़िन्दगी को और असुरक्षित बनाने का काम किया है। फ़िल्मों, टीवी सीरियलों और विज्ञापनों आदि के ज़रिए औरतों को महज़ भोग-विलास की सामग्री समझने वाली उपभोक्तावादी संस्कृति भी तेज़ी से फैली है। इस प्रकार पुराने सामन्ती मूल्य-मान्यताओं और आधुनिक पूँजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति के मेल से पूरे समाज में औरत-विरोधी मानसिकता को फलने-फूलने का मौक़ा मिला है।

नवउदारवाद के तीन दशकों के दौरान शहरों और गाँवों में एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है जिसके पास अचानक बहुत पैसा आ गया है और उसे लगता है कि वह अपने पैसे और राजनीतिक ताक़त के बूते कुछ भी कर सकता है। इस वर्ग की पैठ तमाम बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों में होने की वजह से उसे राजनीतिक ताक़त भी हासिल हुई है। इसलिए इस वर्ग से आने वाले बलात्कारियों को राजनीतिक प्रश्रय भी हासिल होता है। इसके अलावा पूँजीवादी विकास से पैदा होने वाले अलगाव और अमानवीकरण की वजह से मज़दूर वर्ग के बीच से भी एक लम्पट सर्वहारा वर्ग पैदा हुआ है जो मनुष्यता की शर्तों को ही खो चुका है। हाल के वर्षों में औरतों के साथ होने वाली दरिन्दगी को अंजाम देने में इस लम्पट वर्ग से आने वाले मनुष्यताविहीन लोगों की अच्छी-ख़ासी संख्या रही है। इसके अतिरिक्त नवउदारवादी दौर में ही परवान चढ़े फ़ासीवादी उभार ने भी पूरे समाज को ही औरत-विरोधी प्रतिक्रियावादी ताक़तों की गिरफ़्त में ला दिया है जिसका नतीजा औरतों और बच्चियों के ख़िलाफ़ विभिन्न क़िस्म के वीभत्स अपराधों में बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आ रहा है।

भारतीय राज्यसत्ता की विभिन्न संस्थाओं में गहराई तक पैठी स्त्री-विरोधी सोच भी औरतों की समस्याओं को बढ़ाने का काम करती है। भारत की नौकरशाही और पुलिस तंत्र में औपनिवेशिक और सामन्ती दौर की विरासत आज भी चली आ रही है जिसकी वजह से औरतों को इन्साफ़ मिलना मुश्किल होता है। आये दिन तमाम नेता-मंत्री और अधिकारी औरतों पर हो रहे ज़ुल्मों के लिए ख़ुद औरतों को ही ज़िम्मेदार बताने वाले बयान बेशर्मी से देते रहते हैं जिसकी वजह से अपराधियों-बलात्कारियों का मन बढ़ता है।

कैसे रोका जाये औरतों के ख़िलाफ़ बढ़ते अपराधों का सिलसिला?

चूँकि औरतों के ख़िलाफ़ हो रहे ज़ुल्मों के लिए मुख्य रूप से समाज का पूँजीवादी पितृसत्तात्मक ढाँचा ज़िम्मेदार है, इसलिए औरतों को इन ज़ुल्मों से पूरी तरह से छुटकारा और सच्ची मुक्ति तो इस ढाँचे को तोड़कर बराबरी व न्याय पर आधारित समाजवादी समाज बनाने के बाद ही हासिल हो पायेगी। इसलिए औरतों की मुक्ति की लड़ाई सीधे तौर पर पूँजीवाद के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग की लड़ाई से जुड़ी है।

लेकिन इसका मतलब यह हरगिज़ नहीं है कि औरतों की मुक्ति की लड़ाई को पूँजीवाद से छुटकारा पाने तक टाल दिया जाना चाहिए। बल्कि ज़रूरत इस बात की है कि आज से ही घर-परिवार से लेकर कल-कारख़ानों और दफ़्तरों तक औरतों के साथ हो रहे तमाम क़िस्म के भेदभाव और ज़ुल्मो-सितम के ख़िलाफ़ समझौताहीन संघर्ष छेड़ा जाये। मेहनतकशों की बस्तियों और निम्नमध्यवर्गीय मोहल्लों में औरतों और नौजवानों के चौकसी दस्ते बनाने की ज़रूरत है जो तमाम लम्पट तत्वों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करें और पुलिस प्रशासन पर दबाव डालकर औरतों को इन्साफ़ दिलाने का काम करें। तृणमूल स्तर पर ऐसा जनान्दोलन खड़ा करके ही वर्तमान पूँजीवादी ढाँचे के भीतर भी शासन-प्रशासन को ज़्यादा जनपक्षधर और जनोन्मुख बनाने के लिए दबाव डाला जा सकता है और औरतों के ख़िलाफ़ हो रहे अपराधों के मामलों में न्याय मिलने में देरी को कम किया जा सकता है।

हमें इस सोच का विरोध करना चाहिए कि औरतों के लिए दुश्मन पुरुष हैं। हमारी दुश्मन पूँजीवादी पुरुष श्रेष्ठतावादी व पितृसत्तात्मक सोच है। जो पुरुष स्वयं इस सोच के विरुद्ध संघर्ष करना चाहते हैं, वे इस लड़ाई का हिस्सा हैं। स्त्री मुक्ति स्त्रियों की ज़िम्मेदारी नहीं है, बल्कि एक क्रान्तिकारी पितृसत्ता-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन की ज़िम्मेदारी है।

कहाँ से पैदा होते हैं बलात्कारी,
हत्यारे, लम्पट
अमानवीय पशुवत जीव!
पूँजीवादी सभ्यता-संस्कृति की
जारज औलादें हैं
ये ज़हरीले नाग।
ये स्त्री-विरोधी
परम्पराओं-रूढ़ियों के
बिलों-बाँबियों में छिपे रहते हैं,
जीते हैं रुग्ण संस्कृति की
नशीली ख़ुराक पर,
लोभ-लाभ की संस्कृति और
अन्धी प्रतिस्पर्धा
इनके ज़हर को मारक बनाती है,
आम लोगों की कायरता
और तटस्थता
इनकी हिम्मत बढ़ाती है,
स्त्री-शरीर को उपभोक्ता वस्तु
के रूप में परोसता
मनोरंजन उद्योग
इनका उन्माद बढ़ाता है।

बेशक, इन ज़हरीले नागों का
फन कुचलना होगा,
पर इतना ही काफ़ी नहीं होगा।
इन्हें क्षण-प्रतिक्षण जन्म देने वाली
मानवद्रोही सामाजिक व्यवस्था
और उसकी रुग्ण संस्कृति
के विरुद्ध
एक लम्बी, फ़ैसलाकुन लड़ाई
लड़नी होगी,
प्रतिगामी परम्पराओं-रूढ़ियों के
बिलों-बाँबियों को
नष्ट करना होगा
और शराफ़त की आड़ लेने वाले
कायर और तटस्थ लोगों की
आँखों के सामने खड़े करने होंगे
कुछ जलते हुए प्रश्नचिह्न!

(स्त्री मुक्ति लीग के पोस्टर से साभार।)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006